गुरुवर

श्री प्रोफेसर कालीप्रसाद

अध्यक्ष दर्शन विभाग

लखनऊ विश्वविद्यालय

को

सादर, सविनय समर्पित

विषय सूची

THE main purpose of life is to live rightly, think rightly, act rightly; the soul must languish when we give all our thought to the body.

GANDHI.

अध्याय—१

विषय-प्रवेश

दार्शनिक चिंतन की आवश्यकता—पृथ्वी पर मनुष्य का प्रादुर्भाव हुए सहस्त्रों शताब्दियाँ व्यतीत हो चुकीं। उस समय से आज तक उसमें निरन्तर विकास होता रहा है और इस समय भी यह प्रक्रिया उसके जीवन के प्रत्येक अंग को प्रभावित कर रही है। आधुनिक विकासवादी सिद्धान्त के अनुसार इसका मुख्य कारण नवीन परिस्थितियों का जन्म है जिनके अनुरूप उसे प्रतिक्षण अपने को बनाना पड़ता है। परिस्थितियों के परिवर्तित होने के साथ साथ यदि जीवन में भी परिवर्तन नहीं होता तो निश्चय ही उसे भारी क्षति उठानी पड़ेगी। इस क्षति से बचने के ही लिए उसे इस प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता होती है। यह परिवर्तन दो प्रकार से धटित होता है। एक तो यह कि प्रकृति की शक्तियाँ किसी वस्तु विशेष को स्वयं ही उसके वातावरण के अनुरूप बना डालती हैं, उदाहरण के लिए कतिपय प्राणियों का वर्ण शत्रुओं से उनकी रक्षार्थ उनके आसपास के वातावरण के वर्ण के समान हो जाया करता है। इस प्रकार का

परिवर्तन वे प्राणी स्वयं नहीं करते, क्योंकि न तो उन्हें अपना तथा अपनी परिस्थतियों का ज्ञान ही होता है, और न उन्हें इस परिवर्तन को उत्पन्न करने की शक्ति ही उपलब्ध है। दूसरे इस प्रकार का परिवर्तन बुद्धि की सहायता से परिस्थितियों को समझ कर उनके अनुसार उत्पन्न किया जाता है। किंतु यह केवल उसी प्राणी के लिए संभव है जो बुद्धि से युक्त है, बुद्धिहीन प्राणी ऐसा करने में सर्वथा असमर्थ रहता है। बुद्धि से युक्त प्राणियों में मनुष्य ही सर्वश्रेष्ठ है, और यही कारण है कि उसकी परिभाषा 'मनुष्य एक बुद्धियुक्त प्राणी है', (Man is a Rational Animal) की गई।

जब से मनुष्य उत्पन्न हुआ उसे प्रकृति की शक्तियों का सामना करना पड़ा और अपने को जीवित रखने के लिए कुछ तो अपने को प्रकृति अनुरूप बनाया और कुछ प्रकृति की विभिन्न शक्तियों को अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप यथाशक्ति ढाला। जहाँ तक उसके स्वयं के परिवर्तित होने का प्रश्न है हम यह देखते हैं कि वह अधिकतर प्राकृतिक शक्तियों के दबाव के कारण अनजाने ही हुआ। साथ ही इससे यह न समझ लेना चाहिए कि मनुष्य ने जानबूझ कर स्वयं कोई परिवर्तन नहीं किया। किन्तु इस प्रकार के परिवर्तन अपेक्षाकृत थोड़े ही हुए। दूसरी ओर बाह्य उपकरणों को आवश्यकताओं के अनुरूप जब भी बनाया गया, उसमें उसका बौद्धिक उद्योग सदैव रहा। प्रारंभ में तो मनुष्य का वातावरण केवल प्रकृति के भौतिक तत्व तथा उसके व्यापार ही थे, किन्तु जैसे जैसे मनुष्य एक दूसरे के निकट आता गया और उसकी आवश्यकताओं में वृद्धि हुई उसका वातावरण (भौतिक तथा मानसिक) अधिक जटिल होता गया। इसी जटिलता को सुलझाने के लिए अनादिकाल से उसे जो बौद्धिक प्रयत्न करना पड़ा उसी को 'दर्शन' की संज्ञा दी जाती है। मनुष्य अपने को समाज तथा प्रकृति से अलग नहीं कर सकता अतः उसे उनके अंतर्गत सफलतापूर्वक रहने के लिए

संजनित समस्याओं एवं कठिनाइयों को हल करना ही होगा। दार्शनिक-चिंतन इसी हल को तलाश करने का एक उपाय है।

समाज दर्शन का क्षेत्र तथा विस्तार (Scope of Social Philosophy)—समाज के बनने से पूर्व मनुष्य का जीवन बिलकुल पशुओं के जीवन के समान था। सभी व्यक्ति अलग अलग विचरण करते थे, और केवल अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं के लिए उद्योग करते थे। दूसरों की आवश्यकताओं की पूर्ति का किसी को ध्यान न था। किन्तु जैसे ही उसमें दूसरों को उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति में सहयोग देने तथा अपने लिए दूसरों से सहयोग लेने का भाव जाग्रत हुआ उसी समय समाज की नींव पड़ी। लोगों ने एक दूसरे को समझने का प्रयत्न करना प्रारंभ किया ताकि वे दूसरों के साहचर्य में सफलतापूर्वक जीवन व्यतीत कर सकें। साथ ही इसके यह भी आवश्यक समझा जाने लगा कि लोगों के आपस के संबंधों का भी समुचित अध्ययन किया जाय, क्योंकि मनुष्य अनेक अभिप्रायों से एक दूसरे से संबंध स्थापित करता है। अतः ये संबंध भी अनेक प्रकार के होते हैं। किस प्रकार के संबंध से किस प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है यह जानना परमावश्यक हो गया, क्योंकि इस ज्ञान के अभाव में आवश्यकताओं की पूर्ति का कोई निश्चित मार्ग नहीं निकाला जा सकता। इस उद्देश्य से समय-समय पर जो अनेक प्रयास होते रहे उनके फलस्वरूप अनेक सामाजिक विज्ञानों (Social Sciences) का जन्म हुआ। इनमें समाजशास्त्र (Sociology), राजनीति (Politics) तथा अर्थशास्त्र (Economics) प्रमुख हैं।

इन विज्ञानों ने हमारे समाज को अनेक भिन्न-भिन्न विभागों में विभाजित कर दिया और अनेक प्रकार के संबंधों का अलग अलग

अध्ययन करने की योजना बनाई। इसका कारण यह है कि जब तक किसी विज्ञान के सम्मुख कोई निश्चित क्षेत्र न हो तब तक उसके लिए किसी सम्यक ज्ञान का संपादन करना संभव नहीं होता। अतः यह विभाजन सरलता की दृष्टि से ही किया गया। किन्तु यह समझना कि समाज में एकता है ही नहीं अथवा यदि है भी तो इस प्रकार के वर्गीकरण से उसका विनाश हो जाता है भारी भूल होगी। समाज की यह एकता अविच्छिन्न है और इसी के अध्ययन के लिए एक दर्शन की आवश्यकता होती है। दर्शन के विद्यार्थियों को यह भली भाँति ज्ञात भी होगा कि भिन्न-भिन्न विज्ञानों तथा दर्शन में यही एक सबसे मौलिक अंतर है। और भी अनेक अंतर हैं जिन पर विचार करना यहाँ आवश्यक नहीं।

विज्ञानों की विविधता के बावजूद मनुष्य की सामाजिक एकता (Social Unity of Mankind) पर विचार करने वाला दर्शन समाज दर्शन (Social Philosophy) कहलाता है। इसके अंतर्गत मनुष्य के सब प्रकार के संबंधों का समावेश है, अतः कोई भी सामाजिक-विज्ञान अपने को समाज-दर्शन की सीमा से पृथक नहीं कर सकता। हमारे इस कथन से यह न समझना चाहिए कि इन विज्ञानों तथा समाज-दर्शन में कोई विरोध है। अंतर केवल इतना है कि समाज-दर्शन की दृष्टि अधिक व्यापक है। हमारे सामाजिक जीवन का कोई पहलू ऐसा नहीं है जो इसके क्षेत्र से बाहर रहा जा सके। मनुष्य की सामाजिक एकता ही उसके अध्ययन का केन्द्र-बिन्दु है, और उसी के प्रकाश में अन्य विज्ञानों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों का मूल्यांकन करने तथा उसी के हित में उनका प्रयोग करने में यह प्रयत्नशील होता है।

समाज-शास्त्र तथा समाज-दर्शन (Social Sciences and Social Philosophy)—हम अभी ऊपर कह आये हैं कि दर्शन तथा विज्ञानों में काफ़ी भेद है। यह भेद दृष्टिकोण

तथा प्रणाली दोनों में ही देखने को मिलता है। किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि यह दोनों वस्तुएँ एक दूसरे से बिल्कुल स्वतंत्र हैं, और इनमें आपस में कोई साम्य नहीं है। यह भेद तो केवल अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से ही निर्धारित कर लिया गया है। यदि हम इन सामाजिक विज्ञानों के इतिहास को देखें तो हमें पता चलता है कि किस प्रकार एक दार्शनिक-परम्परा से इनका पृथक्कीकरण हुआ। उस समय से आज तक अपने एक विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह सभी प्रयत्नशील रहे हैं। परन्तु आज कुछ लोगों में यह भ्रांति देखने को मिलती है कि समाज-दर्शन तथा समाज-शास्त्र मौलिक रूप से भिन्न हैं। इनके प्रयत्न भी सर्वथा भिन्न उद्देश्यों की प्राप्ति चाहते हैं।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो पता चलेगा कि सामाजिक समस्याओं को हल करने के लिए यह आवश्यक है कि सिद्धांत (Theory) तथा व्यवहार (Practice) का समन्वय किया जाय। हमारी रुचि वास्तव में उन समस्याओं में होनी चाहिए जिनमें मूल्यांकन (Value) एवं तथ्यों (Facts) के प्रश्न एक दूसरे से अच्छी तरह गुथे हों। तथ्यों का हमारे लिए कोई महत्त्व नहीं यदि हमने उनका मूल्यांकन करना नहीं सीखा; इसी प्रकार मूल्यांकन कोई अर्थ नहीं रखता यदि हमारे सामने तथ्य मौजूद नहीं हैं। गिंसबर्ग* के अनुसार आज की शिक्षा में यह सबसे बड़ा दोष है कि समाज-शास्त्र के विद्यार्थियों को सामाजिक तथ्यों को एकत्र करके उनका अध्ययन करना तो सिखाया जाता है, किन्तु उनमें उनका मूल्यांकन करने की रुचि तथा योग्यता उत्पन्न नहीं की जाती। इसका फल यह होता है कि अधिकतर अध्ययन निरुपयोगी रह जाते हैं।

---

* दे०—Ginsberg, Morris—Reason and Unreason in Society पृ० १२२-१२३

समाज-दर्शन का अन्य विषयों से संबंध—वैसे तो अध्ययन के क्षेत्र में सारे विषय एक दूसरे से किसी न किसी रूप में संबंधित हैं, किन्तु फिर भी जिन विषयों का समाज-दर्शन से सीधा संबंध है केवल उन्हीं का उल्लेख हम यहाँ करेंगे।

समाज-दर्शन तथा प्राणिशास्त्र (Biology)—समाज-दर्शन सामाजिक समस्याओं का अध्ययन करता है। यह समाज जिन व्यक्तियों से मिल कर बना है वे प्राणियों की ही एक जाति के जीव हैं। इन जीवों में प्रारंभ से विकास होता रहा है और आज भी हो रहा है। इस विकास का प्रभाव केवल उन जीवों पर ही होता हो ऐसा नहीं है, उसका समाज पर भी बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ता है। अतः समाज-दर्शन के लिए उसको समझना बड़ा आवश्यक है। हर्बर्ट स्पेंसर तथा कामटे ने समाज-दर्शन तथा प्राणिशास्त्र के संबंध पर बड़ा गौरव दिया है।

समाज-दर्शन तथा मनोविज्ञान (Psychology)—मानव जीवन के लिए जो सबसे महत्वपूर्ण बात है वह है मन (Mind) का होना, और वह विज्ञान जो मन का अध्ययन करता है समाज-दर्शन से भली प्रकार संबंधित है। क्षुधा (Appetites), सहज प्रवृत्तियाँ (Instincts) तथा संवेगों (Emotions) का मानव समाज तथा उसके कार्यकलापों को समझने के लिए तिरस्कार नहीं किया जा सकता। मानव प्रकृति के इन पहलुओं का अध्ययन वैसे तो मनोविज्ञान द्वारा होता आया है, किन्तु चूँकि समाज के निर्माण तथा उसकी समस्याओं के उत्पन्न होने में इनका बहुत बड़ा हाथ होता है, अतः इनका महत्व इतना अधिक है कि आजकल मनोविज्ञान के ही अंतर्गत अध्ययन की एक दूसरी शाखा उत्पन्न हो गई है जिसे समाज-मनोविज्ञान (Social Psychology) कहते हैं

समाज-दर्शन तथा नीति-शास्त्र (Ethics) नीति-शास्त्र का सीधा संबंध मनुष्य के उन लक्ष्यों (Ends) से है जिन्हें प्राप्त करना मानव जीवन का उद्देश्य होता है, अतः समाज-दर्शन का जितना गहरा संबंध इस शास्त्र से है उतना किसी अन्य शास्त्र से नहीं। समाज-दर्शन यथार्थ में नीति-शास्त्र का एक अंग कहा जा सकता है। साथ ही इसके नीति-शास्त्र को भी समाज-दर्शन का अंग कहने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। किन्तु इतना होने पर भी अध्ययन की सुविधा के लिए इन दोनों विषयों में भेद करना आवश्यक है। नीति-शास्त्र मुख्यतया व्यक्तियों के आचरण (Conduct) से संबंधित है, तथापि हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि वे व्यक्ति समाज में ही रहते हैं। दूसरी ओर समाज-दर्शन का संबंध प्रधानतया समाज से है, किन्तु हमें यहाँ भी यह न भूलना चाहिए कि समाज का निर्माण व्यक्तियों से ही होता है। और वे लक्ष्य जिन्हें प्राप्त करने के लिए व्यक्ति तथा समाज प्रयत्न करते हैं लगभग समान होते हैं।

समाज-दर्शन तथा राजनीति—राजनीति अथवा राज्य संबंधी सिद्धांत सामाजिक अध्ययन का एक महत्वपूर्ण अंग है। वे सभी समाज जिनमें कुछ भी उन्नति हुई है किसी न किसी प्रकार की सरकार से युक्त हैं। और इससे संबंधित समस्याएँ इतनी गूढ़ तथा जटिल हैं कि जिसके कारण उसका एक स्वतंत्र विज्ञान होना आवश्यक है। किन्तु फिर भी बहुत सी ऐसी बातें हैं जो समाज-दर्शन से काफ़ी संबंध रखती हैं।

समाज-दर्शन तथा अर्थशास्त्र (Economics)—वाणिज्य तथा व्यवसाय मानव समाज के कार्यों का इतना महत्वपूर्ण अंग है कि जिसके कारण समाज के किसी भी दर्शन में उसका उल्लेख अनिवार्य है। किन्तु यहाँ भी हम यह देखते हैं कि इससे संबंधित

समस्याएँ इतनी जटिल तथा व्यापक हैं कि जिसके कारण उनके लिए एक स्वतंत्र विज्ञान का होना उतना ही आवश्यक है जितना कि हम अभी अन्य विज्ञानों के संबंध में ऊपर कह आए हैं। अर्थशास्त्र संबंधी लगभग सारे विषय ऐसे हैं जिनका विवरण मात्रा अथवा गणना के रूप में दिया जाता है, अतः गणित से इसका बड़ा संबंध है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि व्यवसाय अथवा वित्त संबंधी सारी बातें समाज में ही कोई अर्थ रखती हैं। कारण यह है कि आदान प्रदान इसका सब प्रमुख अंग है, और यह आदान प्रदान समाज में ही संभव हो सकता है। आज तो लेन देन तथा व्यापार का क्षेत्र इतना अधिक बढ़ गया है कि जिसके कारण संसार के किसी भी भाग में घटित होने वाली अर्थ संबंधी घटना के प्रभाव से कोई भी देश अछूता नहीं रह सकता। यही कारण है कि आज के समाज शास्त्रियों का ध्यान हमारे वर्तमान समाज पर पड़ने वाले अर्थ-संबंधी प्रभावों के अध्ययन की ही ओर सबसे अधिक है। हमारी आज की सभी समस्याओं के पीछे किसी न किसी रूप में एक आर्थिक कारण मौजूद है जो हमारे व्यक्तिगत जीवन के साथ ही साथ हमारे जनजीवन को भी प्रभावित कर रहा है। समाज-दर्शन चूँकि हमारी सामाजिक समस्याओं का अध्ययन करके उनका हल तलाश करने का प्रयत्न करता है अतः उसका इस विज्ञान से संबंध होना अनिवार्य है।

समाज-दर्शन तथा इतिहास—हमारे सामाजिक जीवन के जितने भी पहलू हैं उन सब में परिवर्तन होता रहता है, और जैसे-जैसे समय बदलता है उनके नए नए रूप हमारे सामने आते रहते हैं। इतिहास वह विज्ञान है जो इन परिवर्तनों का लेखा हमारे सामने प्रस्तुत करता है ताकि हम आज की समस्याओं तथा घटनाओं को

सरलता से समझने तथा उनका हल ढूँढ़ने में सफल हो सके। समाज-दर्शन भी अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए ऐतिहासिक घटनाओं का अध्ययन करता है, अतः इतिहास से उसका कितना घनिष्ट संबंध है यह सरलता पूर्वक समझा जा सकता है।

समाज-दर्शन की प्रमुख समस्या (The Central Problem of Social Philosophy)—समाज-दर्शन के संबंध में अब तक जो कुछ कहा गया है उससे इसके स्वरूप, क्षेत्र तथा इसकी प्रमुख समस्या को समझने में काफी सहायता मिलती है। किन्तु फिर भी इसकी प्रमुख समस्या के संबंध में कुछ विस्तार से कहना आवश्यक जान पड़ता है।

समाज-दर्शन की जिस समय उत्पत्ति हुई उस समय उसकी मुख्य समस्या यह थी कि किन अर्थों में एवं किस हद तक समाज को प्राकृतिक कहा जा सकता है। आज भी इतना समय व्यतीत हो जाने पर यही समस्या इस दर्शन का प्रमुख विषय बनी हुई है। समाज के संबंध में या तो यह कहा जा सकता है कि इसका संगठन एक आकस्मिक घटना थी और जिन तत्वों से मिलकर इसका निर्माण हुआ है वे वास्तव में किसी विशेष क्रम में बँधे नहीं हैं। और समय-समय पर इसके स्वरूप में जो परिवर्तन देखने को मिलते हैं उनका कोई निश्चित आधार नहीं है। इसके विपरीत दूसरी बात यह कही जा सकती है कि समाज का संगठन कोई आकस्मिक घटना न थी बल्कि उसका निर्माण ठीक उसी प्रकार हुआ जिस प्रकार कि अन्य प्राकृतिक वस्तुओं का हुआ, अतः यह भी प्राकृतिक है। यदि यह दूसरी बात मान ली जाय तो तुरन्त ही यह प्रश्न उठ खड़ा होगा कि किस दृष्टि से यह प्राकृतिक है, और इसके वह कौन से विशेष रूप हैं जिनकी उत्पत्ति उसकी मूल-प्रकृति द्वारा होती है। प्लेटो तथा

अरस्तू ने इस बात का उत्तर देने का प्रयत्न किया है। उनका मत है कि उन सभी वस्तुओं के लिए जो प्राकृतिक हैं अपरिवर्तनशील होना आवश्यक नहीं। वास्तव में यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो ज्ञात होगा कि परिवर्तन तथा विकास प्रकृति का एक प्रमुख लक्षण है। किन्तु इसका यह आशय नहीं, कि उस परिवर्तन में कोई क्रम तथा अर्थ नहीं है। इसी प्रकार उन वस्तुओं को भी क्रमहीन नहीं कहा जा सकता जिनका कि जन्म मानव प्रकृति के विशिष्ट गुणों द्वारा हुआ है।

हम यह देखते हैं कि जहाँ तक प्रकृति के भौतिक पक्ष का संबंध है उसमें कुछ निश्चित नियमों का पालन बड़ी बारीकी से होता है। उसकी कोई भी साधारण से साधारण घटना उन नियमों का उल्लंघन करके घटित नहीं होती। ठीक इसी प्रकार मनुष्य के जीवन की गति-विधि पर भी प्राकृतिक नियमों का अधिकार है। तत्संबंधी कोई भी घटना उन नियमों के प्रकाश में समझी जा सकती है, अतः यह कहना कि प्रकृति के इस पक्ष में नियम लागू नहीं होते भ्रमपूर्ण है। यदि मानव-जीवन अथवा मानव-प्रकृति समाज का मूलाधार है, फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि उसकी घटनाओं में कोई तारतम्य नहीं है, कोई क्रम नहीं है। सामाजिक संगठन का मूलाधार जब मानव-प्रकृति है तो यह आवश्यक हो जाता है कि उसके संबंध में विचार किया जाय ताकि समाज के स्वरूप को ठीक ठीक समझा जा सके। समाज-दर्शन मनुष्य की प्रकृति के इसी स्वरूप को समझने का प्रयत्न करता है, यही उसकी सबसे प्रमुख समस्या है।

आज के युग में समाज-दर्शन की उपादेयता—वैसे तो हमारे सामने ऐसे अनेक शास्त्र मौजूद हैं जो आज की वर्तमान समस्याओं को समझने तथा उनका हल ढूँढ़ने में प्रयत्नशील हैं,

किन्तु समाज-दर्शन एक ऐसा विषय है जिसका महत्व अन्य सभी शास्त्रों तथा विषयों से अधिक है।

आज के युग में मनुष्य के अधिक सभ्य हो जाने के बावजूद भी कुछ ऐसी बातें उत्पन्न हो गई हैं और निरंतर होती जा रही हैं जो उसे व्याकुल बनाए हुए हैं। लोगों का विचार था कि विगत महायुद्ध के समाप्त हो जाने पर संसार में शांति स्थापित हो जायगी और मौजूदा कलह तथा विद्वेष कुछ समय के लिए दूर हो जायगा। किन्तु युद्ध के समाप्त होने पर यह धारणा भ्रमपूर्ण निकली। युद्ध तो अवश्य समाप्त हो गया, परन्तु उसने कुछ ऐसी अन्य जटिल समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं जिनका हल तलाश करने के लिए आज का मनुष्य अपने को अयोग्य सा पा रहा है। यही नहीं इन समस्याओं में इतनी विविधता है कि जिनका अलग अलग अध्ययन करना मनुष्य की शक्ति के बाहर की बात है। ऐसी दशा में सबसे सरल उपाय यही है कि हम अपना ध्यान इन सारी समस्याओं की तह में ले जाएँ, और उस एक वस्तु को समझने का प्रयत्न करें जो बहुत हद तक इनकी उत्पत्ति के लिए जिम्मेवार है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है समाज की वह बुनियादी वस्तु मानव-प्रकृति है, और उसका अध्ययन समाज-दर्शन द्वारा होता है। अतएव आज की समस्याओं को समझने के के लिए हमारी सम्मति में सबसे उपयोगी विषय समाज-दर्शन ही है।

की भी जीवकोपार्जन की आवश्यकता पूरी नहीं हो सकती। समाज की इस सामान्य आवश्यकता की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि उसके भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के व्यवसायों तथा प्रयत्नों में भिन्नता अथवा असमानता हो। जिस व्यक्ति के पास जो योग्यता तथा साधन मौजूद होता है उसी से वह दूसरे व्यक्ति की उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रयत्न करता है जिसके लिए उसके पास वह योग्यता तथा साधन मौजूद नहीं हैं। किन्तु यहाँ यह न भूलना चाहिए कि प्रधानता साम्य की ही है, असमानता की नहीं। असमानता तो केवल गौण रूप से समाज के निर्माण में सहायक होती है।

पारस्परिक निर्भरता (Interdependence) भी समाज के निर्माण के लिए एक आवश्यक वस्तु है। समाज का आदि-रूप परिवार लिंग संबंधी पारस्परिक निर्भरता (Interdependence of the Sexes) पर ही निर्भर करता है। लिंग (Sex) की दृष्टि से समाज का प्रत्येक प्राणी अपूर्ण है, अतः उसे अपनी तत्संबंधी जैविक-आवश्यकता (Biological Need) की पूर्ति के लिए विपरीत लिंग वाले व्यक्ति पर निर्भर करना होता है। इस प्रकार समाज का जन्म पारस्परिक निर्भरता के कारण ही हुआ। यह तो हुई मनुष्य की व्यक्तिगत निर्भरता की बात; किन्तु आगे चलकर इसी निर्भरता का क्षेत्र समाज की उन्नति के साथ साथ अधिक विस्तृत हो जाता है, और उसके प्रकारों में वृद्धि होती रहती है। प्राचीन युग में मनुष्य स्थान स्थान पर छोटे छोटे समुदायों अथवा समूहों में रहा करता था। उसकी आवश्यकताएँ थोड़ी होती थीं, तथा उनकी पूर्ति के लगभग सारे साधन उस छोटे से समूह में ही उपलब्ध हो जाते थे। अतः उसे उनकी पूर्ति के लिए उस समूह अथवा समुदाय के बाहर की दुनियाँ पर निर्भर नहीं होना पड़ता था। इसके कई कारण भी थे जिनमें आवागमन के साधनों का अभाव प्रमुख था। किन्तु जैसे

जैसे आवागमन के साधनों में उन्नति हुई उनकी आवश्यकताएँ भी बढ़ीं। या यह भी कहा जा सकता है कि जैसे जैसे उसकी आवश्यकताओं में वृद्धि हुई उसने उनकी पूर्ति के साधनों की तलाश में अपने छोटे से समुदाय के बाहर जाने के लिए आवागमन के साधनों में उन्नति की, और फलस्वरूप वह बाहरी दुनियाँ के अन्य व्यक्तियों तथा समुदायों के संपर्क में आया। इस प्रकार उसकी निर्भरता का क्षेत्र निरंतर बढ़ता ही गया, और आज ऐसी अवस्था प्राप्त हो गई है कि संसार का प्रत्येक देश अन्य देशों की सहायता के बिना अपना काम नहीं चला सकता।

समाज के निर्माण के लिए चौथी आवश्यक बात सहकारिता (Cooperation) है। विचार करने से ज्ञात होता है कि समाज यथार्थतः युद्ध का प्रतिवाद (Antithesis) है; युद्ध का अर्थ है समूहों अथवा व्यक्तियों के विरोधी हितों के कारण पारस्परिक विनाश, समाज का अर्थ है समूहों अथवा व्यक्तियों के समान हितों के कारण पारस्परिक निर्माण। यह पारस्परिक निर्माण उस समय तक संभव नहीं जब तक कि लोगों में सहकारिता की भावना जागरित न हो। समाज का प्रत्येक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की आवश्यकताओं का पूरक है, अतः उसे इस दिशा में प्रयत्नशील होना पड़ता है। यदि सहकारिता की यह भावना लोगों में न रहे तो निश्चय ही समाज का अंत हो जायगा।

इस प्रकार हमने यह देखा कि समाज के निर्माण के लिए समानता, असमानता, अंतरनिर्भरता (Interdependence) तथा सहकारिता (Cooperation) का होना अनिवार्य है। किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि हमने इन वस्तुओं का परिगणन करके समाज के स्वरूप का वर्णन प्रस्तुत कर दिया। ये तो केवल कुछ ऐसी स्थूल बातें हैं जो हमें साधारणतया समाज के स्वरूप पर दृष्टिपात करने

पर दिखाई पड़ती हैं। वस्तुतः समाज उन व्यक्तियों के उद्देश्यों तथा इच्छाओं (Wills) द्वारा व्यक्त होने वाले पारस्परिक संबंधों का एक अत्यंत सुगठित क्रम है, जो कि उनकी समानता तथा अंतरनिर्भरता का ज्ञान रखते हैं। अतएव जैसा कि मैकाइवर का कथन है यह मन की एक विशेष स्थिति अथवा गुण है; इस प्रकार की मनोवृत्ति वाले लोगों के सुख अथवा सुविधा का साधन-मात्र नहीं है।* उदाहरणार्थ माता तथा उसके शिशु का सामाजिक संबंध माता के अपने शिशु के प्रति तथा शिशु के अपनी अपनी माता के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण (Attitude) में निहित है। यह एक सामाजिक तथ्य है जो कि केवल एक जैविक तथ्य (Biological Fact) से सर्वथा भिन्न है। इसी प्रकार के अन्य अनेक सामाजिक तथ्य मौजूद हैं जिनसे कि समाज का निर्माण होता है। इस प्रकार के बहुत से ऐसे भी तथ्य हैं जिनका हमें ज्ञान नहीं है, किन्तु इससे उनकी अवहेलना भी नहीं की जा सकती। हमारा प्रयास समाज के स्वरूप को भली भाँति समझने के लिए सदैव उन तथ्यों की खोज-बीन होना चाहिए जो सूक्ष्म तथा अज्ञात होने के साथ साथ समाज के निर्माण में बड़े सहायक हैं।

समाज के स्वरूप को समझने के पश्चात् यदि हम संक्षेप में उसकी व्याख्या करने का प्रयत्न करें तो कह सकते हैं कि समाज व्यक्तित्व (Individuality) का प्रसार है, आत्म-परिवेष्टन (Self Enclosedness) का अतिक्रमण (Transcendence) है, व्यक्तिगत गुणों का वाहक है, व्यक्तित्व (Personality) के सदियों से प्रवाहित होने वाले क्रम का कारण है, प्रकृति पर विजय प्राप्त करने

---

* देखिए—Maciver, R. M.—The Elements of Social Science पृष्ठ-३

के हेतु एक मानवीय संगठन एवं उसके क्रूर नियमों से त्राण पाने के लिए मानव की शरण है, तथा जीवन के अनुभवों का एक संचित कोष है।

समाज की उत्पत्ति

समाज के वास्तविक स्वरूप तथा व्यक्ति एवं समाज के संबंध को भली-भाँति समझने के लिए यह आवश्यक है कि समाज की उत्पत्ति कैसे हुई, इस पर विचार किया जाय। समाज की उत्पत्ति के संबंध में वैसे तो बहुत समय से विचार होता चला आया है, किन्तु आज भी यह समस्या उतनी ही महत्वपूर्ण बनी हुई है जितनी कि कभी आज से पूर्व रही होगी। मेरा तो ऐसा अनुमान है कि आज के युग में इस समस्या का महत्व इतना अधिक है कि जितना इससे पहले कभी नहीं रहा। उसका कारण स्पष्ट है। जैसे-जैसे सभ्यता की प्रगति हुई मनुष्य के आपस के तथा मनुष्य और समुदाय के संबंध अधिकाधिक जटिल होते गए। इसके साथ ही साथ समस्याओं में भी जटिलता की अभिवृद्धि हुई, जिनको सुलझाने के लिए आज के विचारक व्यस्त हैं। इस संबंध में कतिपय विचारकों का यह मत रहा है कि यदि समाज की उत्पत्ति के संबंध में किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचा जा सके तो हमारी आज की अनेक समस्याओं के हल के लिए मार्ग खुल जाय। समय समय पर लोगों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ है, और जो अनेक धारणाएँ बनीं उन पर यहाँ विचार किया जायगा।

समाज का प्राकृतिक आधार (The Natural Basis of Society)—बहुत से लोगों का यह मत रहा है कि समाज का एक प्राकृतिक आधार है। मानव-प्रकृति के तमाम मौलिक तत्व एक प्रकार की सामाजिक एकता को जन्म देते हैं। यदि हम अपनी विभिन्न आवश्यकताओं को ध्यान में देखें तो हमें ज्ञात होगा कि

उन सबका विभाजन तीन श्रेणियों में हो सकता है। पहली श्रेणी वानस्पतिक आवश्यकताओं (Vegetative Needs) की है, जिनमें हमारी उन आवश्यकताओं का समावेश होता है जिन्हें हम वनस्पति जगत में पाते हैं। इनमें प्रमुख भोजन की प्राप्ति गर्मी-सर्दी, तूफान, बाढ़, रोग एवं जंगली पशुओं से बचाव तथा प्रजनन (Reproduction) हैं। दूसरी श्रेणी उन आवश्यकताओं की है जो हमें पशु-जगत (Animal World) में देखने को मिलती हैं। इनका अधिकतर संबंध पशु-प्रवृत्तियों (Animal Impulses) से है। इनके अतिरिक्त तीसरी श्रेणी उन आवश्यकताओं की है जो हमें मानव-जगत में दिखाई पड़ती हैं। इनका संबंध मानव-प्रकृति (Human Nature) से है। मानव-प्रकृति की विशेषता उसकी बुद्धि में है, अतः मानवीय आवश्यकताएँ केवल वे ही कहलाएँगी जिनका कि आधार भावात्मक अथवा प्रवृत्यात्मक (Emotional or Impulsive) न होकर केवल बौद्धिक अथवा यौक्तिक (Rational) है। इन तीनों प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सामूहिक प्रयत्न (United Effort) अनिवार्य है, इसके बिना ऐसा संभव नहीं। वनस्पति-जगत तथा पशु-जगत में इस प्रकार का सामूहिक प्रयत्न हमें देखने को मिलता है। मानव-जीवन जिसमें इन आवश्यकताओं के अतिरिक्त उसकी अपनी विशिष्ट आवश्यकताएँ भी मौजूद हैं, के लिए सहयोग की कितनी आवश्यकता प्रारंभ में ही रही होगी सरलता से समझा जा सकता है। सहयोग की इसी आवश्यकता द्वारा समाज का जन्म हुआ होगा, यह मानने में अधिक कठिनाई नहीं होनी चाहिए। इस संबंध में विशप बटलर का यह मत विचारणीय है—"There is such a natural principle of attraction in man towards man, that having trod the same tract of land, having breathed the same climate, barely having been born in the same artificial district or division, becomes the occasion of

contracting acquaintance and familiarities many years after; for anything may serve the purpose Thus relations merely nominal are sought and invented, not by governors, but by the lowest of the people; which are found sufficient to hold mankind together in little fraternities and copartnerships; weak ties indeed, and what may afford fund enough for ridicule, if they are absurdly considered as the real principles of that union; but they are in truth merely the occasions, as anything may be of anything, upon which our nature carries us on according to its own previous bent and bias; which occasions therefore would be nothing at all were there not this prior disposition and bias of nature."

सामाजिक समझौते की धारणा (The Conception of a Social Contract)—टामस हाब्स के मतानुसार मानवता की प्राकृतिक अवस्था वह है जिसमें मनुष्य एक दूसरे से लड़ता है, एक दूसरे के प्रति भेड़िये के सदृश बर्ताव करता है—*Homo Homini Lupus* प्रारंभ में मनुष्य की दशा बड़ी शोचनीय रही होगी, क्योंकि किसी को एक दूसरे के हितों का ध्यान न था, अतः केवल वे ही जीवित रह सकते थे जो दूसरों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली थे। अशांति का साम्राज्य था। शक्तिशाली व्यक्ति भी शांति का अनुभव नहीं करते थे। उन्हें हर समय यही भय बना रहता था कि दूसरे किसी भी समय इनसे अधिक शक्तिशाली न हो जाँय। इसी अशांति तथा भय ने लोगों को आपस में एक समझौता करने को बाध्य किया। हाब्स के अनुसार, समझौते का अर्थ है अधिकारों का पारस्परिक आदान-प्रदान*।

* The mutual transferring of Right, is that which men call CONTRACT.

इस प्रकार एक संगठन उत्पन्न किया गया जिसमें लोगों ने अपने अधिकारों तथा शक्ति का बँटवारा किया। अधिकारों के साथ साथ व्यक्तियों को अपने कर्तव्यों का ज्ञान कराया गया। इसका फल यह हुआ कि उनमें एक सामाजिक चेतना का उदय हुआ, वे मिल जुल कर रहने लगे, मनुष्य मनुष्य के लिए देवता बन गया—*Homo Homini Deus.*

दूसरे विचारकों ने इसी समझौते को अन्य प्रकार से समझने का प्रयत्न किया है। उनके मत हाब्स के मत से कुछ भिन्नता रखते हैं। स्पिनोज़ा (Spinoza) तथा लॉक (Locke) उसके इस कथन से असहमत हैं कि लोगों ने किसी शक्ति के आगे अपने अधिकारों का समर्पण कर दिया। रूसो (Rousseau) यह नहीं मानता कि किसी समय सदैव के लिए कोई एक समझौता किया गया*। उसके मतानुसार समझौता इस प्रकार किया गया कि जो समय समय पर सामान्य इच्छा-शक्ति (General Will) द्वारा वर्तमान आवश्यकताओं के प्रकाश में दुहराया जा सके। सामाजिक समझौते की व्याख्या करते हुए रूसो कहता है-"The Problem is to find a form of association which will defend and protect with the whole common force the person and goods of each associate, and in which each, while uniting himself with all, may still obey himself alone, and remain as free as before" इस प्रकार रूसो के अनुसार समझौते का स्वरूप ऐसा था जिसमें लोगों को किसी बाह्य शक्ति ने ऐसा करने को बाध्य नहीं किया था, बल्कि एक सामान्य श्रेय की भावना से प्रेरित होकर इस प्रकार का समझौता किया गया, अतः लोगों का व्यक्तिगत स्वातंत्र्य नष्ट नहीं हुआ।

---

*देखिए—Rousseau, J. J.—Social Contract.

यदि यह मान लिया जाय कि किसी समय लोगों ने आपस में इस प्रकार का एक समझौता किया जिसके द्वारा उन्होंने मिल-जुल कर एक दूसरे के लिए कार्य करना सीखा, तो इससे यह निष्कर्ष निकलेगा कि उससे पूर्व उनमें सामाजिकता का पूर्ण अभाव था। किन्तु जब हमें पशु-जगत तथा वनस्पति जगत में सामाजिकता दिखाई पड़ती है तो हमारे लिए यह मानना कठिन हो जाता है कि आदि-अवस्था में मनुष्य सामाजिक-भावना से बिल्कुल शून्य था। कुछ विचारकों का मत है कि मनुष्य सदा से ही सामाजिक रहा है। हाँ, यह अवश्य है कि उसकी उस समय की सामाजिकता तथा आज की सामाजिकता के स्वरूप में बड़ा भेद है। प्रारंभ में मनुष्य की सामाजिक भावना उसकी जैविक आवश्यकताओं (Biological Needs) की पूर्ति तक के लिए सीमित थी; किन्तु उसमें बुद्धि के विकास होने पर वह भावना नष्ट हो गई, और आवश्यकताओं में परिवर्तन हो जाने के कारण एक नई सामाजिक भावना की आवश्यकता हुई। इस अवसर पर अवश्य एक नया सामाजिक संगठन बनाया गया जिसके लिए कतिपय समझौते आवश्यक थे। इस संबंध में मेकेन्ज़ी का यह कथन महत्वपूर्ण है—"No doubt it may be urged that the reflective power in man, and the large claims which it enables him to make, tends to break up the natural unity of society and that a more complicated unity has to be devised, based upon definite contracts."* आज से कुछ समय पूर्व का 'लीग आफ़ नेशन्स' (League of Nations) तथा आज का 'संयुक्त-राष्ट्र-संघ' (United Nations Organization) एक प्रकार के अंतर्राष्ट्रीय समझौते का फल हैं।

---

* देखिए—Mackenzie, J. S. Outlines of Social Philosophy पृष्ठ ४८

अवयवी एकता की भावना (The Conception of Organic Unity)—हर्बर्ट स्पेंसर* तथा शैफुल इत्यादि कतिपय दार्शनिकों ने समाज की तुलना मानव-शरीर से की है। उनका कथन है कि जिस प्रकार शरीर की सारी आवश्यकताएँ अलग अलग अंगों मात्र की न होकर संपूर्ण शरीर की होती हैं, जिनकी पूर्ति के लिए उस शरीर के सारे अंग मिलकर कार्य करते हैं; ठीक उसी प्रकार समाज भी एक इकाई है, एक पूर्ण शरीर है जिसके सारे व्यक्ति अंग हैं। ये अंग समाज की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मिल जुल कर कार्य करते हैं। उनके लिए स्वतंत्र होकर रहना असंभव है। इस संबंध में निम्नलिखित बातें विचारणीय हैं।

समाज इस अर्थ में एक जीवित वस्तु है कि वह एक केवल यांत्रिक वस्तु नहीं है, जैसा कि *सामाजिक समझौते की धारणा* है। उसकी उत्पत्ति प्राकृतिक है। किन्तु यदि इस पर आवश्यकता से अधिक गौरव दिया जाय, जैसा कि कुछ विचारकों ने किया है, तो हमें यह मानना होगा कि मानव-समाज में स्वतंत्र निर्णय का कोई स्थान नहीं रह जाता। कोई प्राकृतिक शरीर अपने डील डौल को न बढ़ा या घटा सकता है और न अपने अंगों के आकार-प्रकार में कोई बड़ा परिवर्तन ही कर सकता है। किन्तु कोई भी समाज अपने स्वरूप को बदल सकता है। यदि उसमें विकास होता है तो यह आवश्यक नहीं कि उसका विनाश भी हो। शरीर विकसित होता है किन्तु एक सीमा के पश्चात् उसका ह्रास प्रारंभ हो जाता है और अंत में उसे नष्ट हो जाना पड़ता है। अतः यदि हम उसे एक अवयव मानते हैं तो यह मानना होगा कि वह अवयवों का एक अवयव है, और प्रत्येक अवयव का एक निश्चित स्वरूप है, उसका एक अपना जीवन है।

---

* देखिए—Spencer, Herbert—Principles of Sociology प्रथम भाग

समाज का यह-संगठित अवयव इतना होने पर भी निस्संदेह 'जीवित' है, किन्तु यह जीवन विचारपूर्ण है। उसमें विवेक, निर्णय तथा विचार करने की शक्ति है। साथ ही विगत जीवन के अनुभवों द्वारा अपने भविष्य का निर्माण तथा वर्तमान की समालोचना करने में वह समर्थ है। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि समाज एक जीवित अवयव होने के साथ साथ कुछ अन्य विशेषताएँ भी रखता है, जिनमें विचार तथा विवेक की क्षमता प्रमुख है।

समाज की नव्योत्क्रांतिवादी धारणा (Emergent-Evolutionary Conception of Society)—वैसे तो विकास संसार का गुण है। उसमें पायी जाने वाली प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण अपने वर्तमान स्वरूप को त्याग कर उससे उत्तम अन्य स्वरूप की ओर अग्रसर हो रही है, किन्तु जीवित पदार्थों यथा वनस्पतियों, पशुओं एवं मनुष्यों में यह विकास स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार समाज के स्वरूप में, विशेषकर जब कि उसे एक जीवित अवयव माना जा चुका हो, यदि विकास की प्रक्रिया पायी जाय तो इसे कोई ऐसी असाधारण बात नहीं समझना चाहिए जिसका कि प्रथक उल्लेख आवश्यक हो। किन्तु यहाँ उस विकास के क्रम का उल्लेख नहीं करना है। इस संबंध में जिस उत्क्रांति की बात कही गई है वह समाज के परिवर्तन के विषय में अधिक न कह कर उसकी उत्पत्ति पर ही अधिक प्रकाश डालती है।

नव्योत्क्रांतिवादी सिद्धांत के अनुसार विकास-प्रक्रिया में नवीन तत्वों की उत्पत्ति होती है। इस सिद्धांत को प्रतिपादित करने का श्रेय लायड मार्गन को है। उसके मतानुसार विकास के क्रम में वे नए नए गुण उद्भूत होते हैं जो उन मूल वस्तुओं में मौजूद नहीं होते जिनसे मिल कर उनकी उत्पत्ति होती है; उदाहरणार्थ जीवन एक ऐसा गुण है जो उन वस्तुओं में मौजूद नहीं जिनके संयोग से उसकी उत्पत्ति हुई।

समाज भी इसी प्रकार की एक वस्तु है जो कुछ अन्य वस्तुओं के योग से उत्पन्न होती है। उक्त वस्तुओं अर्थात् व्यक्तियों में मूलतः वे गुण मौजूद नहीं जो समाज में हमें देखने को मिलते हैं, और जिनके कारण हम समाज को समाज कहते हैं। यदि ये सारे व्यक्ति अलग अलग हो जाएँ तो समाज नाम की वस्तु उसी प्रकार नष्ट हो जायगी जैसे कि सोडियम और क्लोरीन को अलग कर देने पर नमकीन स्वाद नष्ट हो जाता है। इस मत के अनुसार समाज एक इकाई न होकर कुछ तत्वों (व्यक्तियों) का यौगिक मात्र है, तथा उसका विनाश भी उसी प्रकार संभव है जैसे कि उसका निर्माण। समाज का विनाश हो जाने पर भी व्यक्तियों का जीवन अक्षुण्ण रह सकता है, किन्तु समाज को प्राकृतिक मानने वाले सिद्धांत के अनुसार व्यक्तियों का जीवन समाज पर ही अवलंबित है, उसके न रहने पर व्यक्ति भी नहीं बच सकता। साथ ही यह सिद्धांत सामाजिक समझौते के सिद्धांत से भी बड़ा भेद रखता है। सामाजिक-समझौते के सिद्धांत के अनुसार समाज व्यक्तियों के आपस के समझौते का फल है। उससे पूर्व लोगों के एक साथ रहने पर भी उसका अस्तित्व न था, और यदि ऐसा समझौता कभी न किया गया होता तो शायद आज भी समाज नाम की कोई वस्तु संसार में न होती। किन्तु सावयवकाल्पनिकवादी-सिद्धांत के अनुसार ऐसा समझौता कोई अर्थ नहीं रखता। व्यक्तियों के एक साथ एकत्र होने मात्र से इसका जन्म हो गया। इसके लिए कभी किसी भी व्यक्ति को कोई सक्रिय प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं हुई।

सामाजिक उद्देश्य
(Social Purpose)

समाज के स्वरूप को समझ लेने के पश्चात् यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि समाज का निर्माण स्वयं किन्हीं नियमों अथवा घटनाओं

द्वारा हो गया अथवा उसकी कोई विशिष्ट आवश्यकता थी जिसने उसे जन्म दिया ? समाज की उत्पत्ति के संबंध में जो विवरण ऊपर प्रस्तुत किया गया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज की उत्पत्ति कोई एक आकस्मिक घटना न थी, बल्कि व्यक्तियों की कुछ आवश्यकताओं ने उसे एक सामाजिक संगठन में शामिल होने को बाध्य किया। अतः यदि यह मान लिया जाय कि समाज का निर्माण किसी विशेष उद्देश्य से हुआ तो हमारे लिए उस उद्देश्य के स्वरूप को समझ लेना अनावश्यक न होगा।

समाज को एक अवयवी-समष्टि (Organic Whole) मान लेने से यह निश्चित हो जाता है कि उसका प्रत्येक कोष (Cell) एक मन तथा शरीर है। प्रत्येक कोष के मन से युक्त होने के कारण उनके द्वारा बना हुआ संपूर्ण संगठन अथवा अवयव एक मानसिक योजना होगी। मानसिक योजना होने के कारण उनमें विचारों का होना भी निश्चित है; यही विचार प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उद्देश्यों का निर्धारण करते हैं। विचारों के ही कारण मानव-समाज पशु-समाज से अधिक उन्नत तथा जटिल है। मनुष्येतर प्राणियों तथा मधुमक्खियों एवं चीटियों में भी शायद मन मौजूद है, किन्तु उनके संबंध में यह सोचना कि उनके समाज का ढाँचा तथा उनके सामाजिक कार्यकलाप बुद्धि एवं उद्देश्य का व्यक्तीकरण है, कठिन है। परन्तु फिर भी उनके सामाजिक संगठन को देखकर यही कहना पड़ता है कि वह मानव-समाज के संगठन से अधिक पूर्ण है, तथा उसमें एकरूपता की मात्रा भी बहुत अधिक है। प्रत्येक विचार तथा भावना जिससे कि प्रेरित होकर एक मधुमक्खी कार्य करती है, मधुमक्खियों के सम्पूर्ण समाज की मानसिक योजना से बहुत अधिक मेल खाते हैं। जो आदतें तथा रहन-सहन के ढंग किसी पशु-समाज के एक सदस्य में पाए जाएँगे वही उस समाज के प्रत्येक सदस्य में भी अनिवार्यतः मौजूद

होंगे। यदि कुत्ते हड्डी चबाते हैं तो यह समझना चाहिए कि एक भी ऐसा कुत्ता मिलना कठिन है जो हड्डी न चबाता हो। इससे यही नतीजा निकाला जा सकता है कि उनकी मानसिक योजना में अत्यधिक एकरूपता है। यही कारण है कि उनके उद्देश्यों तथा लक्ष्यों में असमानता का सर्वथा अभाव है, किन्तु मानव-समाज में काफ़ी असमानता तथा उद्देश्य-वैचित्र्य दिखाई पड़ता है। रहन-सहन के ढंग, बोलचाल, शिष्टाचार, खान-पान तथा रीति-रिवाज सभी तो एक दूसरे से भिन्न हैं! यहाँ तक कि यदि दो भिन्न भाषा-भाषी व्यक्ति एक दूसरे से मिलें तो वे अपने विचार एक दूसरे पर व्यक्त नहीं कर सकते, परन्तु किन्हीं दो देशों के दो कुत्ते यदि आपस में मिलें तो उन्हें अपने को एक दूसरे पर व्यक्त करने में अधिक कठिनाई नहीं होगी। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि मानव-समाज पशु-समाज की अपेक्षा कम उन्नत तथा निम्न कोटि का है। किन्तु ऐसा मानना बड़ी भूल है। मानव-समाज उद्देश्य-वैचित्र्य तथा असमानताओं के ही कारण पशु-समाज से एक सर्वथा भिन्न प्रकार का समाज है। वैचित्र्य तथा असमानताओं के साथ ही साथ उसके उद्देश्य भी पशु समाज के उद्देश्यों से सर्वथा भिन्न प्रकार के हैं। इस भिन्नता पर प्रकाश डालते हुए मानव समाज के उद्देश्यों को स्पष्ट करने का आगे प्रयत्न किया जायगा।

मनुष्येतर प्राणियों में मन तो अवश्य मौजूद है, किन्तु विचार करने की शक्ति तथा विवेक का उनमें सर्वथा अभाव है। मनुष्य में विचार-शक्ति तथा विवेक बहुत अधिक मात्रा में उपस्थित है। यही बात इन दोनों को एक दूसरे से पृथक करती है। विचार-शक्ति के अभाव के कारण पशु-पक्षी इत्यादि अपने उद्देश्यों को निर्धारित नहीं कर सकते, अतः उनका निर्धारण प्रकृति द्वारा होता है। ये उद्देश्य किसी एक व्यक्ति के लिए न होकर सम्पूर्ण समाज के लिए

होते हैं, अतएव उस समाज में उद्देश्य-वैचित्र्य का अभाव रहता है। किन्तु मानव-समाज के उद्देश्यों का निर्धारण प्रकृति द्वारा नहीं होता; प्रत्येक व्यक्ति उन्हें स्वयं निर्धारित करने की योग्यता तथा स्वतंत्रता रखता है, और बहुत हद तक वह उन्हें निर्धारित करता भी है। इसी कारण मानव-समाज में प्रत्येक व्यक्ति के उद्देश्य तथा लक्ष्य भिन्न-भिन्न होते हैं। हमारे समाज की विशेषता तथा उसके प्रत्येक अंग तथा प्रत्येक कार्य की विशेषता उसके तथा इन उद्देश्यों के एवं इन उद्देश्यों के आपस के संबंधों में ही निहित है।

इसके साथ ही साथ मानव-समाज की एकता भी पशु-समाज की एकता से भिन्न है। संगीत-शास्त्र का ज्ञान रखने वालों को यह विदित होगा कि संगीत प्रायः दो प्रकार के होते हैं। एक तो वह जो मेलोडी (Melody) के सिद्धांत पर आधारित है, तथा दूसरा जो हार्मनी (Harmony) के सिद्धांत पर आधारित है। मेलोडी के सिद्धांत पर आधारित संगीत में रागों के योजना इस प्रकार की जाती है कि एक समय में गायक तथा विभिन्न वाद्ययंत्र एक ही स्वर झंकृत करते हैं; हार्मनी के सिद्धांत पर आधारित संगीत में रागों की योजना करते समय इस बात का ध्यान रखा जाता है कि एक समय में गायक तथा विभिन्न वाद्य भिन्न-भिन्न स्वरों को झंकृत करें। किन्तु भिन्न-भिन्न स्वर होने पर भी गायन अथवा वादन में संगीत का प्रवाह हो तथा उसमें आंतरिक एकता का अभाव न होने पाए। यह बात हार्मनी वाले संगीत में बड़ा महत्व रखती है। यदि स्वर-वैचित्र्य के साथ साथ उस आंतरिक एकता का निर्वाह न किया जा सके तो वह स्वरों का केवल एक जमघट होगा संगीत नहीं।

इस छोटे से उदाहरण को मानव-समाज तथा पशु-समाज पर घटित करने पर हमें संगीत की यही दोनों बातें वहाँ भी देखने को मिलती हैं। यदि यह कहा जाय कि पशु-समाज में मेलोडी है, तथा

मानव-समाज में हार्मनी तो कोई अत्युक्ति न होगी। मेलोडी के स्थान पर वैचित्र्य का अभाव होने के कारण किसी प्रकार की गड़बड़ी का भय नहीं, किन्तु हार्मनी के लिए यह परमावश्यक है कि भिन्न-भिन्न उद्देश्य एक दूसरे से टकरा कर सामाजिक एकता को भंग न कर दें। मेरी सम्मति में समाज का यही एक सबसे बड़ा उद्देश्य है। समाज किसी व्यक्ति के उद्देश्यों को ठुकरा नहीं सकता, किन्तु साथ ही साथ वह यह भी सहन नहीं कर सकता कि किसी व्यक्ति अथवा समूह विशेष के उद्देश्यों के कारण दूसरों के कार्यों में बाधा आए और इस प्रकार सामाजिक प्रगति अवरुद्ध हो जाय। यह कार्य जितना ही कठिन है उतना ही आवश्यक भी। कारण यह कि इसके अभाव में व्यक्ति के उद्देश्य कभी पूर्ण नहीं हो सकते, और उनके पूर्ण न होने पर उसका जीवन असंभव है। अतएव उनकी एकता का महत्व उन उद्देश्यों से कहीं अधिक है। इसी को प्राप्त करना समाज का उद्देश्य है। इसी को दूसरे शब्दों में मानव की सामाजिक एकता भी कहा जा सकता है।

अध्याय—३

सामाजिक संस्थाएँ

(Social Institutions)

संस्था की परिभाषा

व्यापक अर्थों में समाज मनुष्य मात्र का संगठन है, किन्तु भौगोलिक कारणों से मनुष्य के लिए यह संभव नहीं कि वह एक साथ रह सके। भौगोलिक परिस्थितियों ने मनुष्य को अलग-अलग रहने के लिए बाध्य किया। जिस स्थान पर जितने व्यक्ति एक साथ रह सके उनका एक अपना समाज बन गया। इसी प्रकार संसार में अनेक समाजों की रचना हुई। ये समाज अनेक होने पर भी बड़े बड़े थे। साथ ही आवागमन के साधनों के अभाव के कारण लोगों के लिए एक ही विस्तृत भौगोलिक क्षेत्र के अंतर्गत भी अन्य लोगों से संपर्क स्थापित करना कठिन था। अतः जो लोग किसी स्थान पर एक साथ रहते, वे उनका एक समुदाय बन गया। शुरू में ये

समुदाय अधिकतर ग्राम-समुदाय (Village Community) थे। यूनान में नगर-राज्यों (City-States) की स्थापना भी इसी प्रकार हुई थी।*

प्रारंभ में तो ये समुदाय काफ़ी छोटे थे तथा लोगों की आवश्यकताएँ भी थोड़ी तथा सीधी सादी थीं, परन्तु जनसंख्या के बढ़ने के साथ-साथ इन समुदायों का कलेवर भी बढ़ता गया। साथ ही जैसे-जैसे सभ्यता में प्रगति हुई लोगों की आवश्यकताओं की संख्या में अभिवृद्धि हुई और उनका स्वरूप भी जटिल हो गया। अब लोगों के लिए यह संभव न रहा कि वे इन समुदायों के रूप में रह कर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। अतएव उनके लिए यह आवश्यक हो गया कि वे उस समुदाय के अंतर्गत ऐसे संगठन बनायें जिनके द्वारा उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति सरलतापूर्वक हो सके। यही नहीं समुदाय की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी कुछ संस्थाओं का निर्माण आवश्यक हो गया। इनमें राज्य प्रमुख है।

एक बात और। प्रत्येक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से अनेक प्रकार से संबंधित है। उदाहरणार्थ एक ही व्यक्ति किसी का पिता है, किसी का पुत्र है, किसी का पति है, किसी का पड़ोसी है, किसी का सहकारी है तथा किसी का मित्र अथवा शत्रु है, इत्यादि। इनमें से कुछ संबंध अन्य संबंधों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण तथा व्यापक हैं, तथा कुछ कम महत्त्वपूर्ण हैं। इस प्रकार इन संबंधों के अलग-अलग समूह बन जाते हैं। इनमें से एक संबंध समूह ऐसा है जो मनुष्य की उत्पत्ति तथा वृद्धि के तथ्यों पर आधारित है—पारिवारिक संबंध; एक दूसरा संबंध समूह है जो हमारे प्रतिदिन के कार्य तथा व्यवसाय पर आधारित है—

---

* देखिए—देवराज तथा जैतली—पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास अध्याय—१ 'यूनानी सभ्यता तथा दर्शन का उदय।'

व्यवसायिक तथा आर्थिक संबंध; इसी प्रकार एक अन्य संबंध समूह है जिसका आधार विधान तथा सरकार है—राजनीतिक संबंध, इत्यादि।

उपर्युक्त संबंधों के आधार पर बनी हुई प्रत्येक संस्था के दो स्वरूप हैं। एक उसका भावात्मक स्वरूप (Abstract Form) तथा दूसरा उसका दृश्यात्मक स्वरूप (Concrete Form)। वैसे तो ये दोनों स्वरूप किसी संस्था के लिए आवश्यक हैं, किन्तु भावात्मक स्वरूप ही उसका मुख्य स्वरूप है। भावात्मक पहलू के बिना किसी संस्था की दृश्यात्मक सत्ता संभव नहीं। उदाहरण के लिए यदि परिवार को लिया जाय तो हम देखेंगे कि उसका दृश्यात्मक पहलू तो वह है जिसमें कई व्यक्ति एक दूसरे के साथ रह कर परिवार का निर्माण करते हैं, किन्तु इसका भावात्मक पहलू विवाह है जिसके बिना परिवार का निर्माण हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार सरकार एक संस्था है जिसका दृश्यात्मक स्वरूप कुछ व्यक्तियों की वह परिषद् है जो कि सरकार का कार्य संचालन करती है, परन्तु इसका भावात्मक स्वरूप राज्य (State) है जो उन व्यक्तियों को उस कार्य के संचालन को शक्ति तथा अधिकार प्रदान करता है। कुछ विद्वानों का यह मत है कि इस प्रकार की भावात्मक तथा दृश्यात्मक संस्थाएँ अलग अलग हैं, और प्रत्येक भावात्मक संस्था एक दृश्यात्मक संस्था से संबधित है जैसे विवाह और परिवार, राज्य और सरकार इत्यादि। किन्तु कुछ विद्वानों के मतानुसार ये संस्थाएँ वास्तव में स्वतंत्र संस्थाएँ नहीं हैं, अतएव इन जोड़ों को मिलाकर ही एक संस्था मानना चाहिए यथा विवाह एवं परिवार दो संस्थाएँ न होकर एक ही संस्था है तथा राज्य एवं सरकार अलग-अलग संस्थाएँ न होकर एक ही संस्था के दो पहलू हैं। लेखक भी इसी मत से सहमत है।

समाज तथा संस्थाएँ

हम अभी ऊपर कह आए हैं कि समाज एक बहुत व्यापक वस्तु है, तथा उसी के अंतर्गत अन्य संस्थाएँ होती हैं। समाज का उद्देश्य मानव की सामाजिक एकता की स्थापना करना है ताकि अनेक विभेद होते हुए भी वह अपने व्यक्तिगत उद्देश्यों तथा लक्ष्यों की प्राप्ति में सफल हो सके और साथ ही साथ अन्य व्यक्तियों को अपने अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में उससे बाधा न पहुंचे। किन्तु मनुष्य के क्या विशिष्ट उद्देश्य हैं तथा उनकी प्राप्ति के लिए क्या उपाय एवं प्रयत्न वांछनीय हैं, इस बात का निर्धारण समाज स्वयं नहीं कर सकता। उसका कार्य तो एक सामान्य व्यवस्था करना ही है। व्यक्तिगत उद्देश्यों के निर्धारण तथा उनकी प्राप्ति के प्रयत्न तो अन्य संस्थाओं द्वारा किए जाते हैं। जैसी जैसी आवश्यकताएँ होती हैं उन्हीं के अनुसार संस्थाओं का जन्म होता रहता है।

समाज तथा संस्था में दूसरा भेद यह है कि समाज कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो समय-समय पर बनता व बिगड़ता रहता हो। मनुष्य समाज के बिना रह ही नहीं सकता और मनुष्य के बिना समाज ही संभव नहीं। यद्यपि कुछ विद्वानों का यह मत रहा है कि समाज पहली वस्तु है तथा मनुष्य दूसरी अथवा गौण। परन्तु यह बात बहुत ठीक नहीं जान पड़ती। मनुष्य एवं समाज का अन्योन्याश्रय संबंध है। संस्था कोई ऐसी वस्तु नहीं है। मनुष्य संस्था के बिना रह सकता है किन्तु समाज के बिना नहीं। फिर भी इससे यह न समझना चाहिए कि संस्था अनावश्यक वस्तु है। मनुष्य तो अवश्य संस्था से विरत हो कर रह सकता है, किन्तु समाज संस्थाओं के बिना नहीं जीवित रह सकता। संस्थाएँ दो प्रकार की होती हैं। एक तो वे जो अनिवार्य हैं और जिनका बनाना या बिगाड़ना मनुष्य के वश की बात नहीं है,

यथा परिवार; एवं दूसरी वे हैं जिनको मनुष्य अपनी आवश्यकतानुसार बनाता है और आवश्यकता न रहने पर बिगाड़ भी सकता है, यथा आर्थिक एवं राजनीतिक संस्थाएँ। यदि इस दूसरे प्रकार की संस्थाओं को छोड़ भी दिया जाय तो भी पहले प्रकार की अनिवार्य संस्थाओं को तोड़ा नहीं जा सकता। परिवार को ही ले लीजिए, यदि इसे नष्ट कर दिया जाय तो स्त्री तथा पुरुष के आपस के संबंध विच्छिन्न हो जाएँगे और यह भय हो जायगा कि कहीं मानव-जाति नष्ट न हो जाय। मानव-जाति के समाप्त हो जाने पर समाज की क्या गति होगी यह सरलता से समझा जा सकता है। इसके साथ ही साथ दूसरे प्रकार की संस्थाएँ भी समाज की स्थिति के लिए आवश्यक हैं। यह ठीक है कि मनुष्य किसी संस्था विशेष को आवश्यकता पड़ने पर बना लेता है तथा उसके न रहने पर उसे नष्ट भी कर सकता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि यह यदि चाहे तो समस्त संस्थाओं का सदैव के लिए अंत कर दे। यदि वह ऐसा करने में सफल हो जाय तो इसका अर्थ होगा उसका स्वयं का विनाश, क्योंकि उस अवस्था में उसके व्यक्तिगत उद्देश्यों तथा लक्ष्यों की प्राप्ति असंभव हो जायगी। और ऐसा होने पर उसकी जीवन-नौका कब तक टिक सकेगी यह कहना कठिन है। अतः इस दृष्टि से इस प्रकार की संस्थाएँ भी समाज की स्थिति के लिए अनिवार्य हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि समाज तथा संस्था में मौलिक भेद होते हुए भी उनका आपस में वैसा ही अन्योन्याश्रय संबंध है जैसा कि व्यक्ति और समाज में।

संस्था के प्रकार

संस्थाएँ जैसा कि अभी बताया जा चुका है मनुष्यों के व्यक्तिगत स्वार्थों तथा उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बनती हैं। या दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि एक छोटे से क्षेत्र में व्यक्तियों की

सामाजिक एकता इनका उद्देश्य होता है। इन संस्थाओं के संबंध में विचार करने पर हम इन्हें दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। एक तो वह जिसमें आने वाली संस्थाओं को हम विधायक संस्थाएँ (Formative Istitutions) कह सकते हैं। तथा दूसरी श्रेणी वह है जिसमें आने वाली संस्थाएँ सामाजिक संस्थाएँ (Social Institutions) कही जा सकती हैं। यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या विधायक संस्थाएँ सामाजिक नहीं हैं? इसके उत्तर में हम यही कह सकते हैं कि वे संस्थाएँ भी अवश्य ही सामाजिक भी हैं, किन्तु उन्हें यह नाम क्यों दिया गया यह बात आगे चल कर स्पष्ट हो जाएगी।

विधायक संस्थाएँ (Formative Institutions)—विधायक संस्थाएँ वे संस्थाएँ हैं जिनका मुख्य उद्देश्य सामाजिक एकता की स्थापना करना है। वैसे तो विस्तृत अर्थ में सामाजिक संस्थाएँ भी एक छोटे से क्षेत्र में सामाजिक एकता उत्पन्न करती हैं, किन्तु उनका प्रधान उद्देश्य यह नहीं होता। उनका उद्देश्य तो उन थोड़े से व्यक्तियों को व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति में योग देना होता है जो उन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए पहले से ही एकता के सूत्र में बँध चुके होते हैं। यहाँ यह पूछा जा सकता है कि फिर यह कहना कहाँ तक उचित होगा कि ये सामाजिक संस्थाएँ कुछ हद तक सामाजिक एकता उत्पन्न करती हैं? इसका उत्तर यही है कि यद्यपि समान उद्देश्यों वाले कुछ व्यक्ति उद्देश्यों की समानता के कारण पहले से ही एकता के सूत्र में बँध चुके होते हैं तथापि यदि ये संस्थाएँ न हों तो वे व्यक्ति स्वयं ही अलग अलग रह कर उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रयत्न करेंगे। अतः उनकी यह एकता इन संस्थाओं के अभाव में नष्ट हो जायगी। इस प्रकार समान उद्देश्यों वाले व्यक्तियों की एकता को पुनः स्थापित करने का श्रेय भी इन्हीं संस्थाओं

को है। अभी हम विधायक संस्थाओं के संबंध में आपको यह बता रहे थे कि उनका प्रमुख उद्देश्य सामाजिक एकता ही उत्पन्न करना है। इसके साथ ही साथ अप्रत्यक्ष रूप से वे मनुष्यों को उनके उद्देश्यों की प्राप्ति में भी सहायता प्रदान करती हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि मनुष्य बहुत से कार्य अकेला होकर नहीं कर सकता, उदाहरणार्थ बच्चों को जन्म देना। इस कार्य के लिए स्त्री तथा पुरुष का साहचर्य अथवा उनकी एकता अनिवार्य है। इसी एकता को उत्पन्न करने वाली संस्थाएँ विधायक संस्थाएँ हैं। अतः यह मानने में अधिक कठिनाई न होगी कि वे व्यक्तियों को उनके विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति में भी अप्रत्यक्ष रूप से सहायता प्रदान करती हैं।

विधायक संस्थाओं का दूसरा कार्य मनुष्य को साहचर्य की शिक्षा देना भी होता है। उदाहरण के लिए परिवार व्यक्तियों को एकता के सूत्र में तो बाँधता ही है, साथ ही साथ उनमें जन्म लेने वाले बच्चों को उनके कर्तव्यों का ज्ञान भी इसी संस्था द्वारा कराया जाता है। दूसरों के लिए आत्म-बलिदान की भावना तथा कुछ विशिष्ट मनोभावों की उत्पत्ति तथा उनका विकास इसी के अंतर्गत संभव है। इससे पृथक संसार में कोई दूसरा स्थान नहीं जहाँ उसे इनके स्वस्थ विकास के लिए अवसर प्राप्त हो सके। इस संबंध में लेखक ने एक स्थान पर यह कहा है कि "वास्तविकता तो यह कि है परिवार ही बच्चों को समाज में अपना स्थान ग्रहण करने के लिए तैयार करता है। अतः इसे हम समाज का मनोवैज्ञानिक साधक (Psychological Agent) कह सकते हैं।*" परिवार के अतिरिक्त राज्य (State) भी इसी प्रकार की एक विधायक संस्था है। परिवार तथा राज्य पर आगे

*देखिए,—जैतली तथा अग्रवाल; फ़ासिज्म, एक मनोवैज्ञानिक अध्ययन। पृष्ठ ७।

चलकर अन्य अध्यायों में विस्तृत रूप से विचार किया जायगा, अतः इनके संबंध में यहाँ अधिक कहना उचित नहीं।

आगे हम जिन संस्थाओं का विवरण प्रस्तुत करने जा रहे हैं उन्हें सामाजिक संस्थाएँ समझना चाहिए।

आर्थिक संस्थाएँ (Economic Institutions)—मनुष्य के लिए जीवित रहने के लिए, यह आवश्यक है कि वह उचित आहार ग्रहण करे, वस्त्रों से अपने शरीर की रक्षा करे, तथा किसी निवास स्थान में अपने को, अपनी संपत्ति को तथा अपने परिवार को सुरक्षित रखे। इसके अतिरिक्त उसे प्रतिदिन अन्य अनेक वस्तुओं की भी आवश्यकता हुआ करती है। इन वस्तुओं को जुटाने के लिए तथा जीविकोपार्जन के लिए अनेक प्रकार के व्यवसायों तथा कला-कौशल की आवश्यकता होती है।। इनका प्रबंध करने के लिए मनुष्य जिन संस्थाओं का निर्माण करता है वे ही आर्थिक संस्थाएँ कहलाती हैं। इनमें कारखाने, भिन्न भिन्न व्यवसाय, बैंक, सहकारी संस्थाएँ (Cooperative Societies), ट्रेड यूनियनें (Trade Unions) तथा विनिमय (Exchanges) प्रमुख हैं।

बर्बर संस्थाएँ (Barbaric Institutions)—मैकेन्जी ने किसी अन्य उपयुक्त शब्द के अभाव में उन संस्थाओं के लिए जो मनुष्य की पशु-प्रवृत्ति संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक होती हैं 'बर्बर संस्थाएँ' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस संबंध में हम भी इसी शब्द का प्रयोग करेंगे। यदि हम पशु-जीवन का अध्ययन करें तो पता चलेगा कि गति (Movement), प्रेम तथा प्रतिद्वंद्विता (Strife) उनकी प्रवृत्तियों में सैद्धान्तिक प्रमुख आवश्यकताएँ हैं। मानव-समाज में जिन संस्थाओं द्वारा इस प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है उन्हें बर्बर संस्थाएँ कहा जा सकता है।

हमारे खेल कूद गति संबंधी प्रवृत्ति के तृप्त्यर्थ होते हैं। पशुओं में भी दौड़ धूप तथा छीन-झपट द्वारा उनकी इस आवश्यकता की पूर्ति होती है। अंतर केवल यह है कि हमने इसके हेतु संस्थाओं का निर्माण करके इस कार्य को भली भाँति करने के लिए अनेक नियम बना लिये हैं। ये खेल कूद इस आवश्यकता की पूर्ति के अतिरिक्त लोगों को सहकारिता की शिक्षा भी देते हैं; किन्तु यह उनका प्रमुख कार्य नहीं है। यदि उनके शिक्षा संबंधी पहलू को बहुत अधिक गौरव दिया जाय तो हम यह देखेंगे कि उनका प्रमुख कार्य अधूरा रह जाता है। उस समय तो हमें यह ध्यान में भी न लाना चाहिए कि इससे हम कोई शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। साथ ही इसके खेल कूद में प्रेम तथा प्रतिद्वंद्विता का भी समावेश होता है। प्रायः सभी खेलों में एक व्यक्ति अथवा एक पार्टी दूसरे व्यक्ति अथवा दूसरी पार्टी को हरा देना चाहते हैं। उस समय उनमें प्रतिद्वंद्विता की भावना बड़ी प्रबल होती है। यह जानते हुए कि यह केवल खेल है एक व्यक्ति थोड़े समय के लिए अपने को तथा अपनी परिस्थिति को भूल जाता है, और इसी में उसकी सफलता निहित होती है। यदि उसे अपनी परिस्थिति का ध्यान खेल के समय रह जाय तो अवश्य ही उसके उस उद्देश्य की पूर्ति न हो सकेगी जिसके लिए वह खेल खेलता है।

इस प्रकार खेलों में प्रेम का भी समावेश होता है। जब कोई पार्टी दूसरी पार्टी के विरुद्ध में खेलती है तो एक पार्टी के सारे सदस्य आपस में तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। यहाँ तक कि उस पार्टी में यदि कोई ऐसा नया व्यक्ति सम्मिलित कर लिया जाय जिसे कुछों को छोड़ कर अन्य सदस्य न जानते हों तब भी शीघ्र ही उनमें आपस में इतनी घनिष्टता उत्पन्न हो जाती है जितनी शायद किसी अन्य परिस्थिति में नहीं। खेल के मैदान में आपने देखा होगा कि जब किसी

खिलाड़ी का पीछा करने कोई विपक्षी आ जाता है तो उस खिलाड़ी की पार्टी के सारे व्यक्ति प्राथमिकता से उसकी सहायता को दौड़ पड़ते हैं। आपस में कोई खिलाड़ी एक दूसरे से ईर्ष्या नहीं करता, वरन् दूसरे खिलाड़ी की विजय से उतना ही प्रसन्न होता है जितना कि वह खिलाड़ी स्वयं अपनी विजय से होता है। यहाँ इस रूप में प्रेम-संबंधी आवश्यकता की भी पूर्ति होती है। इसी प्रकार की अन्य अनेक संस्थाएँ हैं जिनसे इन आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। स्थानाभाव के कारण यहाँ उनका उल्लेख करना उचित नहीं जान पड़ता।

सरकारी संस्थाएँ (Governmental Institutions) जिन संस्थाओं का उल्लेख किया जा चुका है और जिनका उल्लेख आगे किया जायगा उनमें तथा व्यक्तियों के आपस के संबंधों में अस्तव्यस्तता आ जाय यदि सरकारी-संस्थाएँ न हों। समाज में विप्लव अथवा उपद्रव को रोकने तथा मनुष्य को शांतिपूर्वक जीवन-यापन करने की सुविधा प्रदान करने के हेतु सरकार अथवा राज्य का निर्माण किया गया। प्रारंभ में जब समुदाय बहुत छोटे छोटे थे उस समय उनका शक्तिशाली मुखिया ही उन पर शासन करता था। किन्तु जब आगे चल कर ये समुदाय बड़े हो गए तो उसके लिए उसके सारे व्यक्तियों को वश में रखना संभव न रहा, अतः उसी समुदाय के कई व्यक्तियों की एक परिषद् बना दी गई जो उसकी शांति तथा सुरक्षा के लिए प्रबंध करती थी। यही सबसे पहली शासन संबंधी संस्था थी। उसके पश्चात् आवश्यकताओं के अनुसार उसके स्वरूप में अनेक परिवर्तन होते रहे। आज संसार में प्रायः कोई भी ऐसा समाज नहीं है जहाँ किसी भी प्रकार की शासन संबंधी संस्था वर्तमान न हो। आगे एक पृथक् अध्याय में इस संस्था के संबंध में विस्तार पूर्वक विचार किया जायगा। अतः यहाँ इस विषय पर कुछ अधिक कहना उपयुक्त नहीं।

सांस्कृतिक संस्थाएँ
(Cultural Institutions)

सांस्कृतिक संस्थाएँ जीवन के मानव-पक्ष की विशिष्ट संस्थाएँ हैं। अन्य संस्थाएँ जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है या तो वानस्पतिक आवश्यकताओं (Vegetative Needs) से संबंधित हैं और या पशु-प्रवृत्ति संबंधी आवश्यकताओं (Animal Needs) से, अतः वे मानव की बौद्धिक विशिष्टता की द्योतक नहीं है। सांस्कृतिक संस्थाओं का संबंध मानव के उन सभी व्यापारों से है जिनका स्वरूप बौद्धिक अथवा ज्ञान संबंधी है। पशुओं तथा वनस्पतियों के जीवन का चरम उद्देश्य जैविक आवश्यकताओं (Biological Needs) की पूर्ति ही है। इसके परे उनके जीवन का कोई और उद्देश्य नहीं है। मनुष्य के लिए ये वस्तुएँ केवल जीवन की स्थिति के ही लिए हैं। इसके आगे उनका कोई और प्रयोजन नहीं। किन्तु किसी विद्वान के कथनानुसार "Man Cannot Live By Bread Alone" अर्थात् मनुष्य केवल रोटी के ही सहारे जीवित नहीं रह सकता। उसके बौद्धिक एवं कलात्मक पक्ष का विकास तथा उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति इन आवश्यकताओं की पूर्ति से यदि अधिक नहीं तो कम महत्त्व कदापि नहीं रखती। प्राचीन भारतीय आदर्शों के अनुसार भी धर्म अर्थ काम तथा मोक्ष मनुष्य के परम पुरुषार्थ माने गए हैं। इस प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जिन संस्थाओं का निर्माण होता है उन्हें सांस्कृतिक संस्थाएँ कहते हैं।

सांस्कृतिक संस्थाओं की एक और विशेषता है। वह यह कि ये संस्थाएँ न केवल व्यक्ति के जीवन को प्रभावित करती हैं वरन् साथ ही साथ अन्य प्रकार की सामाजिक एवं विधायक संस्थाओं के निर्माण तथा उनकी उन्नति में काफ़ी सहायक होती हैं। वैसे तो अन्य

सभी संस्थाएँ एक दूसरे को प्रभावित करती रहती हैं, किन्तु उनके प्रभाव का क्षेत्र उतना व्यापक नहीं होता, जितना कि सांस्कृतिक संस्थाओं का। इसका प्रमुख कारण यह है कि अन्य संस्थाएँ केवल व्यक्तियों की सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के ही लिए प्रयत्नशील होती हैं; परन्तु सांस्कृतिक संस्थाओं का प्रमुख उद्देश्य मनुष्य में मनुष्यता का उद्रेक करना तथा कार्यों को करने की प्रेरणा उत्पन्न करना होता है। अन्य संस्थाएँ कतिपय उद्देश्यों की प्राप्ति के पश्चात् बेकार हो जाती हैं, किन्तु सांस्कृतिक संस्थाओं की आवश्यकता उस समय तक रहेगी जब तक कि मनुष्य जीवित है। इन कारणों से कुछ हद तक सांस्कृतिक संस्थाओं की गणना विधायक संस्थाओं की कोटि में की जा सकती है। धार्मिक, कलात्मक, साहित्यिक, वैज्ञानिक तथा शिक्षा संबंधी संस्थाएँ सांस्कृतिक संस्थाएँ हैं।

संस्थाओं का पारस्परिक संबंध—समाज के अंतर्गत बनाई गई इन विभिन्न संस्थाओं में कभी कभी विरोध भी उत्पन्न हो जाता है। वैसे तो ये सभी संस्थाएँ मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होती हैं, अतः इनमें आपस में वही पारस्परिक संबंध होना चाहिए जो व्यक्तियों के बीच होता है। समाज एक समष्टि है जिसके सभी व्यक्ति आवश्यक अंग होते हैं। और चूँकि ये एक ही समष्टि के अंग होते हैं अतः इनमें विरोध का होना एक अस्वाभाविक बात है। किन्तु फिर भी ये विरोध समय समय पर उत्पन्न होते रहते हैं। इसी प्रकार के विरोध कभी कभी विभिन्न संस्थाओं के मध्य भी उत्पन्न हो जाया करते हैं। परन्तु इसका कारण मनुष्य का अज्ञान तथा उसके स्वार्थ हैं। यदि उसे समाज में अपनी स्थिति का ठीक-ठीक ज्ञान हो जाय तो उससे ऐसी भूल न हो, और साथ ही साथ संस्थाओं का पारस्परिक विरोध भी दूर हो जाय। इस प्रकार का संस्थागत विरोध बहुत कम उत्पन्न हुआ करता है। अधिकतर तो

उनमें आपस में सहकारिता ही देखने को मिलती है। एक संस्था दूसरी संस्था पर आश्रित होती है तथा साथ ही साथ दूसरी संस्थाओं की अनेक कार्यों में सहायक भी होती है। इनका आपस में अन्योन्याश्रय संबंध होता है।

संस्थाओं की नैतिक विशिष्टता (The Ethical Significance of Institutions)—आदिम समाज में मनुष्य के कोई अपने निश्चित उद्देश्य ठीक उसी प्रकार नहीं होते थे जैसे कि आज हम मनुष्येतर प्राणियों में देखते हैं। उनके उद्देश्य वे ही थे जो प्रकृति के थे, अर्थात् प्राकृतिक परिस्थितियों के अनुसार ही उनके आचरण तथा कार्य-कलाप हुआ करते थे। न तो उन्हें उन परिस्थितियों का ज्ञान था, और न उनके अपने सक्रिय प्रयत्न ही थे। बाद में मनुष्य ने जब बौद्धिक उन्नति की तो अंतर यह हो गया कि वह उन प्राकृतिक परिस्थितियों को समझने लगा तथा साथ ही साथ उन्हें हल करने के लिए सक्रिय प्रयत्न भी करने योग्य हो गया। मनुष्य चूँकि सामाजिक था और यह जानता था कि अकेले उन समस्याओं को हल करना उसके लिए असंभव है, अतः उसने सामूहिक प्रयत्नों द्वारा उन पर विजय प्राप्त करनी चाही। वैसे तो हम यह कह सकते हैं कि पशु तथा वनस्पतियों में भी सामूहिक प्रयत्न देखने को मिलते हैं, फिर उनके और मनुष्यों के इस प्रकार के प्रयत्नों में अंतर क्या रहा? इसका उत्तर यह है कि पशु समाज में इस प्रकार के सामूहिक प्रयत्नों का कारण भी प्रकृति ही होती है, किन्तु मानव समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपना उत्तरदायित्व समझते हुए न केवल अपने हित के लिए, वरन् सारे समाज के हित के लिए, जिसमें कि उसका अपना हित भी शामिल होता है प्रयत्नशील होना पड़ता है। मनुष्य किसी न किसी संस्था के सदस्य की ही हैसियत से ये कार्य करता है, अतः उनके कर्तव्यों का ज्ञान भी उन्हीं के द्वारा उसे कराया

आता है। यदि संस्थाओं द्वारा उन्हें इस प्रकार की प्रेरणा तथा शिक्षा न मिले तो निश्चय ही समाज के हित के लिए उन्हें अपना कर्तव्य निर्वाह करना कठिन हो जाय। यही संस्थाओं की नैतिक विशिष्टता है।

अध्याय—४

परिवार

परिवार का प्राकृतिक आधार

(The Natural Basis of Family)

साधारणतया हम यह समझते हैं कि परिवार केवल मनुष्यों तक ही सीमित है। पशुओं में उसका सर्वथा अभाव है, क्योंकि उनमें पारिवारिक एकता की भावना वर्तमान नहीं। किन्तु यदि विचार किया जाय तो पता चलेगा कि वास्तव में बात ऐसी नहीं। एक समय था जब मनुष्य की भी यही दशा थी जो आज हम पशुओं में देखते हैं, परन्तु उस समय भी उसमें पारिवारिक संगठन मौजूद था। हाँ यह बात दूसरी कि उस पारिवारिक संगठन का स्वरूप आज के पारिवारिक संगठन के स्वरूप से सर्वथा भिन्न था। उस समय से आज तक उसमें अनेक परिवर्तन होते चले आए और

फलस्वरूप आज उसका वह स्वरूप हो गया जो हमें देखने को मिलता है। यही नहीं आज भी स्थान स्थान पर उसके स्वरूप में भिन्नता दिखाई पड़ती है। किन्तु परिवर्तन अथवा विकास से किसी समय परिवार के न होने का नतीजा नहीं निकाला जा सकता। आदिम समाज में परिवार का क्या स्वरूप था तथा उसमें समय समय पर क्या परिवर्तन हुए इसका विवरण आगे दिया जायगा। यहाँ तो हम केवल उसके प्राकृतिक होने की ही बात बताना चाहते हैं।

परिवार का क्या कार्य है तथा उसका प्रमुख उद्देश्य क्या है? यदि यह बात भली भाँति समझ ली जाय तो मेरे विचार से उसके प्राकृतिक होने की बात भी सरलता से समझी जा सकती है।

परिवार के कार्य (Functions of the Family)—

नागरिक जीवन में कतिपय सुधारों की ओर इंगित करते हुए आगबर्न कहते हैं कि कृषि-युग (Agricultural Era) में परिवार के निम्नलिखित छः कार्य थे—(१) स्नेह अथवा प्रेम संबंधी (Affectional); (२) आर्थिक (Economic); (३) मनोरंजन संबंधी (Recreational); (४) पालन-पोषण अथवा रक्षा संबंधी (Protective); (५) धार्मिक (Religious); तथा (६) शिक्षा संबंधी (Educational)*। रीड (Reed) के मतानुसार परिवार के चार कार्य हैं—(१) वंश-वृद्धि (Race Perpetuation); (२) समाजीकरण (Socialization); (३) कामज आवश्यकताओं की पूर्ति तथा उनका नियंत्रण (Regulation and Satisfaction of Sexual Needs); तथा (४) आर्थिक (Economic)। ग्रोव्स (Groves) के मतानुसार परिवार के कार्य ये हैं—(१) बच्चों का पालन-पोषण

* "Social Heritage and the Family", Family Life Today (ed. Margaret E. Rich), पृष्ठ ३१

** The Modern Family, पृष्ठ २६-३६

(Protection and Care of the Young) ; (२) रति संबंधी प्रवृत्तियों का नियंत्रण (Regulation and Control of Sex Impulses) ; (३) सामाजिक बपौती का संग्रह तथा उसका विस्तार (Conservation and Transmission of the Social Heritage) ; तथा आत्मीय संबंधों के लिए अवसर प्रदान करने की व्यवस्था (Provision of Opportunity for the Most Intimate Contacts) * ।

उपर्युक्त बातों पर विचार करते हुए हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि कहाँ तक परिवार पर इन कार्यों को करने की जिम्मेवारी है । वैसे तो परिवार अपनी सीमा में अनेक कार्य करता रहता है, किन्तु हमारा आशय केवल उन कार्यों को ढूँढ निकालना है जिनके लिए ही परिवार अपनी सत्ता रखता है । अंतिम विश्लेषण में यदि हमें यह ज्ञात हो कि कोई भी ऐसा कार्य नहीं है जिसका संपादन परिवार के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं हो सकता तो निश्चय ही हम यह कह सकेंगे कि परिवार एक अप्राकृतिक वस्तु है, उसका कोई प्राकृतिक आधार नहीं ।

हम यह देखते हैं कि प्राचीन युग में परिवार एक अत्यंत मौलिक संस्था के रूप में अनेक महत्वपूर्ण कार्य करता था । इनमें से प्रमुख मनुष्य में सहानुभूति, उपकार, सहकारिता तथा दूसरों के लिए कल्याण की भावना को उत्पन्न करना था । आज्ञापालन की शिक्षा भी इसी संस्था द्वारा संपन्न होती थी । साथ ही साथ यह संस्था परंपरागत संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संचारित करने का भी कार्य करती थी । उस समय इसके अतिरिक्त समाज में कोई अन्य ऐसा

---

*An Introduction to Sociology, पृष्ठ २०६-८; cf. Social Problems of the Family पृष्ठ १-५ तथा ५५-६५

साधन मौजूद नहीं था जो इन कार्यों को अथवा उन कार्यों को जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, संपादित कर सकता, अतः हम यह कह सकते हैं कि उस समय परिवार पर ही इन कार्यों को करने की जिम्मेवारी थी। और ये ही कार्य ऐसे कार्य थे, और आज भी हैं जो मनुष्य को मनुष्य बनाते हैं। इनके बिना मनुष्य मनुष्य नहीं बन सकता। यही नहीं वह पशुओं की श्रेणी में भी नहीं आ सकता। कारण यह कि पशु भी सहकारिता तथा प्रेम इत्यादि कुछ ऐसे गुणों को अपने परिवार में रह कर सीखते हैं जिनसे कि उनकी सत्ता संभव होती है। यदि इन गुणों का किसी प्राणी में सर्वथा अभाव हो जाय तो अवश्य ही उसकी जाति नष्ट हो जायगी, उसका जीवन दुर्लभ हो जायगा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि परिवार उस समय की सबसे महत्वपूर्ण और मौलिक संस्था थी तथा उसका अभाव समाज तथा मानवता के लिए घातक था। किन्तु आज जब हम उसके इन कार्यों पर विचार करते हैं तो हमें यह पता चलता है कि परिवार के अतिरिक्त समाज में कुछ ऐसी अन्य संस्थाएँ उत्पन्न हो गई हैं जो उसके इन कार्यों को बहुत हद तक पूरा करती हैं। आज परिवार के संगठन में जो शिथिलता आ रही है उसका कारण भी शायद यही हो। अथवा यह भी हो सकता है कि पारिवारिक संगठन की शिथिलता के फलस्वरूप ही समाज में इन कार्यों को संपादित करने के हेतु अन्य संस्थाओं का जन्म हो रहा हो। यहाँ हमें इस बात पर विचार नहीं करना है। हमें तो देखना यह है कि परिवार आज किन कार्यों के लिए जीवित है।

परिवार का एक कार्य मनुष्य का समाजीकरण (Socialization) करना था, किन्तु आज वही संस्था मनुष्य का व्यक्तिकरण (Individualization) करने को उद्यत है। नागरिक परिवार में एक बालक को खेल कूद का पर्याप्त अवसर प्राप्त नहीं होता। सहकारिता

तथा आज्ञापालन की शिक्षा भी उसे घर से बाहर नर्सरी अथवा पाठशाला में मिलती है। परिवार का आर्थिक कार्य (जैसा कि अभी हम देख चुके हैं कुछ विद्वानों का मत है) भी बहुत कुछ समाप्त ही होता जा रहा है। पहले उद्योग धंधे परिवार के कई सदस्य मिल कर उसी क्षेत्र के अंतर्गत चलाते थे और उसकी आय का उचित विभाजन करके अपनी जीविका निर्वाह करते थे। किन्तु आज उद्योग धंधों के लिए समाज में बिल्कुल पृथक् व्यवस्था की गई है। यही नहीं घर का भोजन पकाने वस्त्र धोने तथा अन्य दूसरे कार्य भी परिवार द्वारा नहीं किए जाते। बच्चों का पालन-पोषण जिसमें उन्हें दूध पिलाना भी शामिल है एवं उनकी शिक्षा दीक्षा भी परिवार के बाहर ही हो जाती है। किन्हीं-किन्हीं देशों में तो बच्चों को घर से बाहर पालन-पोषण तथा शिक्षा के लिए माता पिताओं को न तो पैसा खर्च करना पड़ता है और न उनको इस प्रकार की व्यवस्था के लिए स्वयं कहीं जाना ही होता है। बच्चे के जन्म लेते ही सरकार उसकी सारी जिम्मेवारी स्वयं अपने ऊपर ले लेती है। इस प्रकार यदि हम विचार करें तो हमें यह पता चलता है कि अब कोई भी ऐसा कार्य नहीं रहा जिसके लिए परिवार ही एक मात्र स्थान हो। ऐसी दशा में परिवार को एक प्राकृतिक अथवा मौलिक संस्था कहना कहाँ तक उचित होगा?

यह प्रश्न वास्तव में बड़े विवाद का विषय है। आज के समाज-शास्त्री तथा मनोवैज्ञानिक इस विषय पर काफ़ी सतर्कता से विचार कर रहे हैं। इसका कारण यह है कि यदि परिवार वास्तव में एक आवश्यक वस्तु है जिस पर कि मनुष्य का विकास निर्भर करता है, तो ऐसी दशा में किन्हीं भ्रामक विचारों द्वारा यदि उसका विनाश एक बार हो गया तो यह संभव है कि मनुष्यता को उससे अंत में भारी क्षति उठानी पड़े।

वैसे तो जितने कार्यों का उल्लेख परिवार के संबंध में किया गया लगभग वे सभी समाज की अन्य उन संस्थाओं द्वारा संपादित किया जा सकता है जिनका उन कार्यों के लिए समय समय पर निर्माण किया गया है। इन विभिन्न संस्थाओं के निर्माण से पूर्व समाज में केवल परिवार ही एक संगठित संस्था थी अतः मनुष्य के सारे कार्य उसी के अंतर्गत किए जाते थे। किन्तु बाद में जैसे जैसे सभ्यता की उन्नति हुई और मनुष्य के पारस्परिक संबंध बढ़े वैसे वैसे उसे यह आवश्यक जान पड़ा कि वह उन तमाम कार्यों का बँटवारा कर दे ताकि प्रत्येक व्यक्ति समाज में रहकर एक दूसरे के लिए उपयोगी सिद्ध हो सके। इसी बँटवारे के फलस्वरूप समाज में अनेक संस्थाओं का जन्म हुआ और परिवार के अनेक कार्यों की जिम्मेवारी वहाँ से हट कर उन पर आ गई। उदाहरण के लिए पहले प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने लिए शिकार करके अपना भोजन प्राप्त करता था, अपने लिए मकान बनाता था तथा अपने लिए अपने हाथ से वस्त्र इत्यादि बनाता था। किन्तु कार्य का बँटवारा हो जाने पर उसे प्रत्येक कार्य स्वयं करने से छुट्टी मिल गई। कोई मनुष्य कपड़ा बना कर दूसरों को देने लगा तो कोई खेती करके दूसरों के लिए अन्न पैदा करने लगा। इसी प्रकार कुछ व्यक्तियों ने बच्चों को शिक्षा देने का कार्य करना प्रारंभ किया जिसके फलस्वरूप परिवार के लोगों की यह जिम्मेवारी भी कम हो गई।

इतना होने पर भी यह बात विचारणीय है कि क्या परिवार के सारे कार्य अन्य संस्थाओं द्वारा संपादित किए जा सकते हैं ? इसके उत्तर में हम यह कह सकते हैं कि कम से कम प्रजनन का कार्य तो इस क्षेत्र से बाहर अन्यत्र कहीं भी संभव नहीं। यहाँ तक कि स्त्री तथा पुरुष की कामज आवश्यकताओं की पूर्ति भी परिवार के बाहर हो सकती है। यदि यह कहा जाय कि गर्भ धारण के पश्चात् उस समाज

में जहाँ विवाद की प्रथा प्रचलित नहीं है स्त्री तथा पुरुष का संबंध-विच्छेद हो जाता है तो ऐसी अवस्था में शिशु का जन्म परिवार में कहाँ हुआ ? इसका उत्तर यह है कि गर्भ धारण के समय स्त्री तथा पुरुष के साहचर्य से परिवार की रचना हुई, उसके पश्चात् किन्हीं कारणों से वह भंग हो गया, किन्तु पुनः शिशु के जन्म लेने पर माता तथा उसके शिशु के द्वारा उसकी पुर्नस्थापना हुई। यह परिवार काफ़ी समय तक मौजूद रहता है, क्योंकि मानव शिशु जन्म लेने के बहुत समय बाद तक इतना निर्बल रहता है कि वह बिना अपनी माता की देख-रेख अथवा लालन-पालन के जीवित नहीं रह सकता। अतः प्रकृति ने माता तथा उसके शिशु के मध्य कुछ ऐसे भावात्मक संबंध उत्पन्न किए हैं जिनके कारण उसके लिए उस शिशु का लालन-पालन करना अनिवार्य हो गया है। वह इसकी अवहेलना कर ही नहीं सकती। इसके साथ ही साथ वह अपनी माता के साहचर्य में रह कर (एक पारिवारिक क्षेत्र के अंतर्गत) प्रारंभ से ही कुछ ऐसी बातें सीखता है जिन्हें वह जीवन भर अन्यत्र कहीं नहीं सीख सकता। लेखक ने एक स्थान पर इसी संबंध में लिखा है कि "परिवार ही मनुष्य को सच्चा मनुष्य बनाता है। यह ऐसी संस्था है जहाँ मनुष्य अनेक रूप धारण करके, परिवार के अन्य सदस्यों से अनेक प्रकारेण संबंधित होकर अपने जीवन का सर्वतोमुखी विकास करता है। उसके भावों तथा आवेगों (Feelings and Emotions) की प्रौढ़ता इसी वातावरण में पूर्ण होती है। इससे पृथक संसार में कोई दूसरा स्थान नहीं जहाँ उसे जीवन के इस अंग को विकसित करने का अवसर प्राप्त हो सके। हमें अपने कर्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों का सही सही अनुभव कराने का भी यही एक मात्र साधन है। यही कारण था कि हमारे पूर्वजों ने उसे धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति

के लिए आवश्यक ही नहीं अनिवार्य बताया" ।*

आज के मनोविश्लेषकों का भी यही मत है कि मनुष्य के व्यक्तित्व का सामान्य विकास (Normal Development of Personalit) पारिवारिक परिस्थितियों पर ही निर्भर करता है। यदि किसी मनुष्य को प्रारंभ में सामान्य पारिवारिक परिस्थितियों में रहने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ तो उसके व्यक्तित्व का विकास ठीक दिशा में कदापि नहीं होगा। पारिवारिक महत्व की यह बात भले ही कुछ लोगों को एक आदर्शवादी धारणा प्रतीत हो, किन्तु आज कुछ ऐसे जड़वादी देशों में भी जहाँ कि परिवार को महत्व न देकर बालकों के लालन-पालन का प्रबंध राजकीय नर्सरियों में किया जाता है, इस बात को स्वीकार किया जा रहा है कि ऐसे बालकों का विकास सामान्य पारिवारिक परिस्थितियों में पलने वाले बच्चों के विकास से सर्वथा भिन्न है। ऐसे बालकों के बड़े होने पर उनमें कुछ ऐसे मानसिक लक्षण (Mental Symptoms) भी देखे गए हैं जिनका कारण उनकी प्रारंभिक स्थानच्युति ही बताई जाती है। अतः हमें यदि किसी अन्य कारण से नहीं तो केवल इसी कारण के आधार पर यह मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि परिवार एक प्राकृतिक संस्था है अथवा उसके आधारभूत तथ्य प्राकृतिक ही हैं कृत्रिम नहीं। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने इसी आधार पर परिवार को एक 'विधायक संस्था' माना है।

पारिवारिक जीवन में अंतर्निर्भरता
(Interdependence in Family Life)

पारिवारिक जीवन की सफलता का एक बहुत बड़ा कारण यह है कि परिवार अन्य संस्थाओं की अपेक्षा व्यक्तियों में अधिक स्थिर

---

* देखिए—जैसली तथा अग्रवाल—शिशु; एक मनोवैज्ञानिक अध्ययन पृष्ठ १२।

संबंधों के लिए अवसर प्रदान करता है। चूँकि इन संबंधों का परिणाम पारस्परिक सुरक्षा होती है अतः उनका महत्व बहुत अधिक होता है। ये संबंध कोई अर्थ नहीं रखते यदि अंतर्निर्भरता का परिवार में लोप हो जाय। अतः अंतर्निर्भरता का महत्व पारिवारिक जीवन में सबसे अधिक है। इस अंतर्निर्भरता को पारिवारिक जीवन के विभिन्न पहलुओं के आधार पर चार श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—(१) जैविक (Biological), (२) आर्थिक (Economic), (३) भावात्मक (Emotional), तथा (४) सांस्कृतिक (Cultural)।

जैविक अंतर्निर्भरता—जैविक अंतर्निर्भरता वास्तव में मनुष्य की द्विलैंगिक प्रकृति (Bisexual Nature) के ही कारण उत्पन्न होती है। लिंग की दृष्टि से प्रत्येक प्राणी अपूर्ण है अतः उसे तत्संबंधी आवश्यकता की पूर्ति के लिए विपरीत लिंग वाले व्यक्ति पर निर्भर होना पड़ता है। पारस्परिक सहयोग के बिना इस आवश्यकता की पूर्ति असंभव है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति इस प्रकार की अंतर्निर्भरता के निवारणार्थ कुछ ऐसी क्रियाओं का सहारा ले सकता है जिससे अप्राकृतिक रूप से उसकी रति संबंधी आवश्यकता की पूर्ति हो सके। किंतु यहाँ यह न भूलना चाहिए कि इस जैविक आवश्यकता के साथ साथ प्रजनन संबंधी आवश्यकता भी अनिवार्य रूप से जुड़ी है। यह ठीक है कि मनुष्य कुछ अप्राकृतिक साधनों से अपनी रति संबंधी आवश्यकता की पूर्ति बिना विपरीत लिंग वाले व्यक्ति पर निर्भर हुए कर ले, परन्तु उससे प्रजनन संभव नहीं। यदि प्रजनन का कार्य बंद हो जाय तो यह स्पष्ट है कि समाज का अंत भी शीघ्र ही हो जाय। इस प्रकार जैविक अंतर्निर्भरता केवल व्यक्ति के ही लिए महत्वपूर्ण न होकर समाज के जीवन के लिए भी अनिवार्य है। इस प्रकार की अंतर्निर्भरता के लिए आदिम समाज में कोई नियम न थे।

का यह निरोध सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक होते हुए भी व्यक्तिगत जीवन के लिए अत्यंत हानिकर तथा घातक होता है। अतः व्यक्ति के लिए एक ऐसे स्थान की आवश्यकता होती है जहाँ वह अपने भावों को सरलतापूर्वक बिना किसी अन्य व्यक्ति को हानि पहुँचाए व्यक्त कर सके। उसके लिए ऐसा स्थान परिवार ही है। यहाँ वह अपने प्रत्येक भाव को व्यक्त करने का अवसर पाता है। पुरुष अपनी पत्नी से तथा पत्नी अपने पति से प्रेम करते हैं; माता पिता अपने बच्चों से तथा बच्चे अपने माता पिताओं से स्नेह करते हैं। साथ ही साथ वे अपने क्रोध, भय तथा इस प्रकार के अन्य भावों को भी व्यक्त कर सकते हैं। इन्हें व्यक्त करने पर परिवार में कुछ गड़बड़ी भी उत्पन्न हो जाया करती है किन्तु उसके शीघ्र ही ठीक हो जाने की संभावना जितनी वहाँ रहती है उतनी अन्यत्र नहीं। यहाँ यह न भूलना चाहिए कि इस कार्य के लिए भी पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता होती है। बिना किसी अन्य व्यक्ति की सहायता के मनुष्य की भावात्मक आवश्यकताओं की न तो पूर्ति हो सकती है और न उनका स्वस्थ विकास ही संभव है।

सांस्कृतिक अंतर्निर्भरता—आधुनिक परिवार में सांस्कृतिक अंतर्निर्भरता का बड़ा महत्व है। किसी भी समाज अथवा देश की संस्कृति का जो स्वरूप हमें देखने को मिलता है उसका निर्धारण अधिकतर परिवार के द्वारा ही होता है। हम यह भली भाँति जानते हैं कि परिवार समाज की सबसे छोटी इकाई है और उसी से समाज बना है। यह तो ठीक है कि समाज व्यक्तियों से भी बना है किन्तु जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं व्यक्तियों के रहते हुए भी परिवार के बिना समाज का एक संगठित स्वरूप संभव नहीं। अतः इससे यह सिद्ध होता है कि परिवार में ही उत्पन्न होने वाले रीति-रिवाज, रहन-सहन के ढंग तथा शिष्टाचार इत्यादि समाज को एक विशेष स्वरूप प्रदान

करते हैं। यही स्वरूप समाज की सांस्कृतिक निधि कहलाती है। अब हमें यह देखना चाहिए कि परिवार में इन सांस्कृतिक तत्वों की उत्पत्ति कैसे संभव होती है।

स्थूल दृष्टि से देखने पर यह ज्ञात होता है कि संस्कृति सदियों से चले आने वाले आदर्शों, विचारों, अनुभूतियों, रहन-सहन के ढंगों, रीति-रिवाज, खान पान तथा शिष्टाचार इत्यादि वस्तुओं से बनती है। इनकी रक्षा परिवारों द्वारा ही अधिकतर होती है। यदि परिवार के लोग अपने परंपरागत आदर्शों, विचारों, खानपान तथा शिष्टाचार इत्यादि को छोड़ कर उनके स्थान पर समय समय पर नई नई बातों को अपनाने लगें तो निश्चय ही उनकी संस्कृति का कोई निश्चित स्वरूप ही न रह जाय। सांस्कृतिक तत्वों की सुरक्षा के लिए परिवार के सभी सदस्यों की पारस्परिक तथा प्रत्येक की पूरे परिवार पर निर्भरता आवश्यक है। उस परिवार का कोई व्यक्ति यदि कोई कार्य करना चाहेगा तो उसे तुरंत अपनी पारिवारिक परंपरा की ओर देखना होगा ताकि वह उसी के अनुसार कार्य कर सके। इसके साथ ही साथ उसके लिए यह भी आवश्यक होगा कि वह उस कार्य को करने के लिए परिवार के अन्य लोगों की सहायता प्राप्त करे। ऐसा बहुधा तभी संभव होता है जब कि उसका यह कार्य परिवार के अन्य व्यक्तियों द्वारा मान्य हो जाय। इस मान्यता को प्राप्त करने के लिए उसे पूरे परिवार की रुचि (जो अधिकतर पारिवारिक परंपरा के अनुकूल ही होती है) के ही अनुसार कार्य करना होता है। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि परिवार में व्यक्तियों को सांस्कृतिक दृष्टि से एक दूसरे पर निर्भर करना होता है।

पारिवारिक संगठन के प्रकार
(Kinds of Family Patterns)

वैसे तो पारिवारिक संगठन का एक अपना निश्चित स्वरूप होता

नहीं होती। यही परिवार आज की सभ्यता का एक उत्कृष्ट नमूना है। इसका कारण यह है कि परिवार के वे व्यक्ति—माता अथवा पिता—जो दूसरों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होते हैं तथा जीविकोपार्जन करके अन्य आश्रित व्यक्तियों का पालन करते हैं, अपने अधिकारों तथा शक्ति का पूर्ण उपयोग अपनी इच्छानुसार नहीं करते। उन्हें परिवार के अन्य व्यक्तियों की आवश्यकताओं तथा मनोभावों का उतना ही ध्यान रहता है जितना कि अपना। इस प्रकार इस परिवार में बच्चों को अपने पिता से न तो कोई भय ही होता है और न वह उसे एक ऐसा आदर्श मानने को बाध्य होते हैं जिसकी आज्ञा पालन करना तथा हर बात में उसका अनुसरण करना अनिवार्य हो। अतः बालकों का मानसिक विकास बहुत स्वस्थ होता है।

शिशु-प्रधान परिवार—पितृ-प्रधान एवं मातृ-प्रधान परिवार शक्ति तथा अधिकारों के आधार पर बनते हैं, साम्य-प्रधान परिवार प्रेम तथा आत्म-बलिदान की भावना पर आश्रित होते हैं तथा शिशु-प्रधान परिवारों का आधार भावात्मक (Emotional) होता है। इस प्रकार के परिवार में माता अथवा पिता को वह स्थान प्राप्त नहीं होता जो कि उसमें उत्पन्न होने वाले शिशु को होता है। यों तो परिवार के सभी बच्चे परिवार का केन्द्र होते हैं किन्तु अधिकतर एक ही बच्चा सबसे अधिक प्रभावशाली होता है। परिवार के अधिकतर कार्य उसी बच्चे की इच्छा अथवा अनिच्छा के अनुसार किए जाते हैं। चूँकि इस प्रकार के परिवार का आधार भावात्मक होता है अतः कभी-कभी यह भी देखा गया है कि बच्चे की आकस्मिक मृत्यु के कारण उसकी एकता ही नष्ट हो गई। शक्ति के आधार पर निर्मित परिवार के सबसे अधिक प्रभावशाली व्यक्ति की यदि मृत्यु हो जाय तो इससे पारिवारिक एकता के नष्ट हो जाने का उतना भय नहीं रहता जितना कि शिशु-प्रधान परिवार में रहता है। उपर्युक्त परिवारों

में शक्तिशाली व्यक्ति के न रहने पर अन्य सदस्य एक प्रकार की स्वतंत्रता अनुभव करते हैं, यद्यपि उसके साथ भय की भी मात्रा रहती है किन्तु शिशु-प्रधान परिवार का तो शिशु के निधन से पूर्ण विकेन्द्रीकरण हो जाता है जिसके फलस्वरूप उसकी एकता के नष्ट हो जाने की बड़ी संभावना रहती है।

अध्याय—५

राज्य
(The. State)

राज्य की परिभाषा

राज्य का क्या अर्थ है, यह कहना सरल नहीं। कभी-कभी इस संबंध में अनेक भ्रामक विचार उत्पन्न होते देखे गए हैं। कुछ लोग राज्य का अर्थ सरकार करते हैं तथा कुछ राष्ट्र (Nation), किन्तु विचार करने से यह ज्ञात होता है कि राज्य इन सबसे भिन्न वस्तु है। अतः मेरे विचार से इन सब पर थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक होगा ताकि अंत में हम यह समझ सकें कि राज्य एक अमुक वस्तु है। जिन वस्तुओं का यहाँ उल्लेख किया जायगा वे हैं—समाज (Society), देश (Country), राष्ट्र (Nation), सरकार (Government), तथा राज्य (State)।

समाज—समाज मनुष्यों का एक ऐसा संगठन है जो उनकी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पारस्परिक आदान-प्रदानार्थ होता है। प्रस्तुत पुस्तक में इस विषय पर हम बहुत विस्तार से विचार कर आए हैं, अतः यहाँ उसकी पुनरावृत्ति करना अनावश्यक होगा। यहाँ तो यह समझ लेना आवश्यक है कि समाज के निर्माण के लिए कोई विशेष नियम आदि नहीं होते, किन्तु राज्य एक ऐसा संगठन है जिसका निर्माण निश्चित नियमों के आधार पर निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किया जाता है।

देश—देश मुख्यतया एक भौगोलिक-क्षेत्र (Geographical Area) होता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उसकी कोई निश्चित भौगोलिक सीमा भी हो। प्राचीन काल में अवश्य ही प्रत्येक देश अपनी-अपनी भौगोलिक सीमाओं के अंतर्गत सुरक्षित होते थे। इसका कारण यह था कि जनसंख्या थोड़ी थी, अतः लोग दूर-दूर पर बसे हुए थे, और जो जाति जिस स्थान पर रहती थी वह अपने क्षेत्र से बाहर आवागमन के साधनों के अभाव में जाना पसंद भी न करती थी। इसके अतिरिक्त प्रत्येक जन समूह अधिकतर नदियों के किनारे ही रहना पसंद करता था अतः उस क्षेत्र की भौगोलिक सीमा वह नदी ही हुआ करती थी। कभी-कभी यह सीमा पर्वत श्रेणियों द्वारा भी निर्धारित होती थी। परन्तु जन संख्या में वृद्धि होने के कारण लोगों ने उन सीमाओं को पार किया और इस प्रकार अपने क्षेत्र में वृद्धि की। जिसे जितनी भूमि की आवश्यकता हुई उसने उतनी भूमि पर अधिकार कर लिया और प्राकृतिक सीमा के अभाव में सैन्य-शक्ति द्वारा अपने क्षेत्र अथवा देश की रक्षा की व्यवस्था कर ली। ये ही क्षेत्र देश कहलाते हैं। इन देशों में यह आवश्यक नहीं कि एक ही जाति अथवा धर्म के लोग रहते हों। भारतवर्ष में हिंदू

मुसलमान तथा अनेक जाति तथा धर्म के लोग रहते हैं। किन्तु फिर भी यह एक देश है। हाँ यह अवश्य है कि एक देश में एक ही सरकार हुआ करती है। यदि एक से अधिक स्वतंत्र सरकारें किसी एक देश में हो जाएँ तो उतने ही देश भी बन जाएँगे। भारतवर्ष में दो स्वतंत्र सरकारों के निर्माण के फलस्वरूप पाकिस्तान तथा भारतवर्ष दो स्वतंत्र देश बन गए। विभाजन से पूर्व केवल एक ही देश था।

राष्ट्र—राष्ट्र उन मनुष्यों का एक समूह है जो कि सामान्यतया (सदैव नहीं) एक ही देश की सीमा के अंतर्गत रहते हों, तथा एक ही प्रकार के नियमों एवं रीति-रिवाजों को मानते हों। उदाहरणार्थ फ्रांस तथा यूनाइटेड-स्टेट्स दो भिन्न-भिन्न राष्ट्र हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि फ्रांस में यूनाइटेड-स्टेट्स के लोग नहीं रहते अथवा यूनाइटेड-स्टेट्स में फ्रांस के लोगों का बिल्कुल अभाव है। किन्तु साथ ही साथ यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि यदि फ्रांस के वे लोग जो यूनाइटेड-स्टेट्स में रहते हैं वहाँ के नियमों अथवा रीति-रिवाजों को मानना छोड़ कर फ्रांस के नियमों एवं रीति-रिवाजों का पालन करने लगें तो अवश्य ही वे यूनाइटेड-स्टेट्स में रहते हुए भी एक भिन्न राष्ट्र का निर्माण कर लेंगे। इसका अर्थ यह हुआ कि किसी एक भौगोलिक अथवा शासन संबंधी सीमा के अंतर्गत रहने वालों का एक ही राष्ट्र होना आवश्यक नहीं। किसी देश के राष्ट्र होने के लिए उसका एक स्वतंत्र राज्य होना भी आवश्यक नहीं। स्काटलैंड एक राष्ट्र है किन्तु स्वतंत्र राज्य नहीं। इसी प्रकार एक स्वतंत्र राज्य का अर्थ भी सदैव एक राष्ट्र नहीं हो सकता। पाकिस्तान एक स्वतंत्र राज्य है किन्तु वह एक स्वतंत्र राष्ट्र नहीं है। वह तो मुस्लिम राष्ट्र का एक अंग है। इससे यह नतीजा निकलता है कि राष्ट्र के लिए एक विशिष्ट संस्कृति का होना अन्य किसी भी बात से अधिक महत्व रखता है।

सरकार—जहाँ कहीं मनुष्य रहते हैं वहाँ उनके लिए कुछ ऐसे नियमों की आवश्यकता होती है जो उनके मध्य शांति तथा व्यवस्था कायम रखने में सहायक हों। ये नियम उसी स्थान के किसी एक व्यक्ति अथवा एक से अधिक व्यक्तियों द्वारा बनाए जाते हैं। ऐसे व्यक्ति जो इन नियमों को बनाते हैं तथा उनका पालन करने के लिए लोगों को बाध्य करते हैं एक ऐसी शक्ति से संपन्न होते हैं जिसे उस राज्य के अधिकतर लोग मानते हैं। इसी शक्ति (Authority) को सरकार कहा जाता है। इस शक्ति का प्रयोग पूरे देश अथवा राष्ट्र पर किया जा सकता है तथा कभी केवल उसके एक भाग पर। कभी-कभी इसी शक्ति का प्रयोग कई देशों अथवा राष्ट्रों की शासन संबंधी व्यवस्था करने के लिए भी किया जाता है। कुछ समय पूर्व तक भारतवर्ष पर ब्रिटिश सरकार का आधिपत्य था, यद्यपि भारतवर्ष ब्रिटेन से लगभग छः हजार मील की दूरी पर स्थित है तथा उसकी सभ्यता, संस्कृति और धर्म ब्रिटेन की सभ्यता, संस्कृति और धर्म से बिलकुल भिन्न हैं। कुछ सरकारें स्वतंत्र सरकारें होती हैं तथा कुछ आश्रित। किसी भी स्वतंत्र देश की केन्द्रीय सरकार किसी भी अन्य सरकार के प्रभाव से पूर्ण स्वतंत्र होती है। इसके साथ साथ उसी देश की प्रांतीय अथवा स्वायत्त-सरकारें (Local Self Governments) उस केन्द्रीय सरकार की आश्रित होती हैं।

राज्य—राज्य की परिभाषा देते हुए यह कहा जा सकता है कि वह उन लोगों का एक ऐसा समूह है जो कि एक ऐसी सरकार द्वारा शासित होते हैं जिस पर प्रत्यक्ष रूप में किसी अन्य शक्ति का प्रभाव नहीं होता। आज के युग में हम यह देखते हैं कि प्रत्येक स्वतंत्र देश पर संसार के किसी न किसी अधिक प्रभावशाली देश का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य है। कुछ देशों पर इस प्रकार का बाहरी प्रभाव कम है तथा कुछ पर अधिक। ईरान एक स्वतंत्र देश है किन्तु

वह कई प्रकार से ब्रिटिश सत्ता के अधीन है। इसी प्रकार के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। किन्तु फिर भी यदि ऐसे देश उसी देश के लोगों तथा वहाँ की ही नीति द्वारा शासित होते हैं तो उन्हें स्वतंत्र राज्य मान लिया जाता है। इस प्रकार राज्य की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि सरकार और प्रजा के रूप में संघटित राष्ट्र को राज्य कहते हैं। इससे व्यावहारिक अर्थ तो अवश्य निकल आता है किन्तु राज्य का पूरा पूरा स्वरूप प्रकट नहीं होता। कुछ विद्वानों का यह कहना है कि इसका इसके सिवा और कुछ स्वरूप है भी नहीं। उनके मतानुसार किसी देश विशेष के निवासियों की उस संस्था का नाम राज्य है जिसके द्वारा उनको सम्मिलित शक्ति का राजनीतिक उपयोग हो सके। साधारण तौर पर भी लोग ऐसा ही समझते हैं। राज्य का अर्थ सरकार होता है। परिभाषा में भले ही सरकार और जनता का संयुक्त नाम राज्य हो पर लोग ऐसा ही मानते हैं कि प्रजा से पृथक् और ऊपर जो सत्ता है, उसका ही नाम राज्य है।

कुछ विद्वान ऐसे भी हैं जिन्होंने इस विषय पर शास्त्रीय अथवा दार्शनिक ढंग से गंभीर विचार किया है। उनके अनुसार राज्य शब्द की व्यापकता बहुत अधिक है। बर्नार्ड बोसांके (Bernard Bosanquet) ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है कि "राज्य केवल राजनीतिक संस्था नहीं है वरन् वह उन सारी छोटी-बड़ी संस्थाओं की समष्टि है जिनके द्वारा जीवन निर्धारित होता है। उसमें परिवार, व्यापार, संप्रदाय तथा विश्वविद्यालय इत्यादि सभी शामिल हैं। राज्य ही वह वस्तु है जो इन सबों को सजीव और सार्थक बनाता है।" जर्मनी के प्रसिद्ध अध्यात्मवादी दार्शनिक हेगेल के मतानुसार

देखिए—Bosanquet, Bernard—The Philosophical heory of the State.

मनुष्य को राज्य के द्वारा ही आध्यात्मिक सत्यता प्राप्त होती है। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि "विश्वात्मा पृथ्वी पर अपने स्वरूप का ज्ञानपूर्वक अनुभव राज्य के रूप में करता है। राज्य की सत्ता जगत् में ईश्वर की गति है।"

राज्य का प्राकृतिक आधार
(The Natural Basis of the State)

हम एक स्थान पर परिवार तथा राज्य को विधायक संस्थाएँ कथित कर चुके हैं, और यह भी बता आए हैं कि परिवार एक प्राकृतिक संस्था है। राज्य भी इसी प्रकार की एक प्राकृतिक संस्था है। परिवार के संबंध में यह कहना कि किसी समय मनुष्य-समाज में उसका अस्तित्व हो न था कठिन है, किन्तु राज्य के संबंध में यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि सभ्यता के उदय से पूर्व इस नाम की वस्तु मानव-समाज में मौजूद न थी। मनुष्य की कुछ आवश्यकताओं ने ही इस संस्था को जन्म दिया। इतने पर भी राज्य को एक प्राकृतिक आधार पर स्थित संस्था कहना कहाँ तक उचित होगा? यह प्रश्न उठाया जा सकता है।

यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो पता चलेगा कि राज्य वास्तव में एक ऐसी संस्था है जिसके पास शक्ति है। यदि यह शक्ति उससे ले ली जाय तो यह एक सामान्य सामाजिक संस्था रह जायगा, राज्य नहीं। एच० फान ट्रीट्शे (H. von Treitschke) के मतानुसार राज्य का विशिष्ट गुण उसकी शक्ति ही है। इसी शक्ति के द्वारा वह समाज में शांति तथा सुरक्षा बनाए रखने में सफल होता है। जब हम यह देखते हैं कि संसार में किसी भी देश अथवा समाज का काम राज्य के बिना नहीं चल सकता तो उसका अर्थ यह हुआ कि इसके अभाव में मानव-समाज शांतिपूर्वक नहीं रह सकता। यदि रह सकता होता तो

व्यर्थ ही आज के उन्नत देश इस प्रकार की संस्था के निर्माण तथा संचालन के लिए अपरिमित धन तथा जन-शक्ति का उपयोग क्यों करते ? इसी धन तथा जन-शक्ति से उनके अनेक अन्य कार्य किए जा सकते थे, और यदि आज किए जाने लगें तो मानवता का स्तर निश्चय ही बहुत ऊँचा हो जाय। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य मिल जुल कर स्वयं शांतिपूर्वक नहीं रह सकता। किन्तु यदि वह शांतिपूर्वक नहीं रह सकता, और कोई वस्तु उसके लिए इस प्रकार की शांति की व्यवस्था कर भी नहीं सकती तो अवश्य ही उसका जीवन दुर्लभ हो जायगा। अतः जीवन की स्थिति के लिए यह आवश्यक ही नहीं अनिवार्य समझा गया कि इस प्रकार की एक संस्था का निर्माण किया जाय। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'परिवार, व्यक्तिगत संपत्ति तथा राज्य का उदय' (The Origin of the Family, Private Property and the State) में राज्य की उत्पत्ति पर प्रकाश डालते हुए फ्रेडरिक एंगेल्स (Frederick Engels) कहते हैं कि समाज ऐसे विरोधों से ग्रस्त था कि यदि उन्हें दूर करने के लिए तथा शांति स्थापित रखने के लिए एक शक्ति उत्पन्न न हो जाती तो वह समाज स्वयं नष्ट हो गया होता। और यह शक्ति जो समाज से ही उत्पन्न हुई किन्तु उसने अपने को समाज से ऊपर रखा, राज्य थी।*

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि मानव की एक ऐसी आवश्यकता ने राज्य को जन्म दिया जिसकी पूर्ति न होने पर उसकी जाति का जीवन ही नष्ट हो गया होता। यही नहीं इतिहास हमें यह बताता है कि अनेक राज्यों के रहते हुए भी संसार में सदैव अशांति रही है। ऐसी अवस्था में उसके अभाव में मनुष्य की क्या दशा हुई होती सरलता-पूर्वक समझा जा सकता है। आज के कुछ अराजकतावादी (Anarchist) विद्वान यथा प्रिंस क्रोपाट्किन इत्यादि इस बात पर गौरव

*देखिए—Marx Engels—Selected Works पृष्ठ २८६।

दे रहे हैं कि राज्य एक अनावश्यक वस्तु है, मनुष्य स्वयं शांतिपूर्वक रह सकता है तथा अपने सारे कार्यों के संचालन की व्यवस्था भी स्वयं कर सकता है। किन्तु परिस्थितियों को देखते हुए यह बात कुछ अधिक नहीं जँचती। यद्यपि लेखक स्वयं इस प्रकार की अराजक सामाजिक व्यवस्था का हामी है पर यह भी इसे मानव जीवन के विकास की चरम अवस्था ही मानता है। अतः इससे यह सिद्ध होता है कि राज्य का जन्म मनुष्य की एक सबसे बड़ी आवश्यकता द्वारा हुआ तथा उसका आधार मानव की अराजक प्रकृति ही है। 'राज्य के जन्म होने' से यह अर्थ न लेना चाहिए कि उसमें पूर्व शांति तथा व्यवस्था कायम रखने वाली कोई वस्तु संसार में थी ही नहीं। ऐसी वस्तु किसी शक्तिशाली व्यक्ति अथवा एक छोटे से समूह के रूप में थी अवश्य किन्तु उसका रूप ऐसा न था जैसा कि आज हमें देखने को मिलता है। जैसे-जैसे हमारी आवश्यकताओं में परिवर्तन हुआ वैसे-वैसे राज्य का स्वरूप भी बदलता गया। परन्तु सामान्यतया लोग राज्य का अर्थ इस प्रकार की एक संगठित संस्था ही करते हैं। इस दृष्टि से भी राज्य को अनादि मान कर प्राकृतिक कहा जा सकता है। आगे चल कर राज्य संबंधी सिद्धांतों का उल्लेख करते समय इस पर पुनः विचार किया जायगा।

राज्य संबंधी सिद्धांत
(The Theories of the State)

राज्य की उत्पत्ति तथा उसके औचित्य को सिद्ध करने के लिए बहुत समय से विद्वान विचार करते आए हैं। इस संबंध में समय समय पर जो धारणाएँ बनीं उनमें से कुछ का उल्लेख यहाँ किया जायगा। वैसे तो यह विषय मुख्यतया राजनीति के अंतर्गत आता है, किन्तु चूँकि ये सिद्धांत राज्य के स्वरूप को समझने में सहायक होने

है, अतः यहाँ उन पर विचार करना अनावश्यक नहीं होगा। वे सिद्धांत जिनका विवरण आगे प्रस्तुत किया जायगा ये हैं—(१) राज्य की अध्यात्मवादी धारणा (Idealistic Conception of State), (२) राज्य की वैयक्तिक धारणा (Conception of State as a Person), (३) राज्य की शक्ति संबंधी धारणा (Conception of State as a Power), (४) राज्य की यान्त्रिक धारणा (Mechanical Conception of State)

राज्य की अध्यात्मवादी धारणा—राज्य की अध्यात्मवादी धारणा को मानने वाले लगभग समस्त विद्वानों के मतानुसार राज्य व्यक्तियों के सर्वोच्च आदर्शों का एक मूर्त्त रूप है। मैथ्यू आर्नोल्ड (Matthew Arnold) जो कि इसी मत के अनुयायी हैं कहते हैं कि "State is the Organ of Our Collective Best Self, of Our National Right Reason", डा० बोसांके के मतानुसार राज्य राष्ट्र की वास्तविक इच्छा-शक्ति का व्यक्तीकरण है। इस धारणा के बहुत बड़े पक्षपाती दार्शनिक हेगेल (Hegel) के अनुसार मौलिक नैतिक संस्थाएँ जो अन्य संस्थाओं का आधार हैं, दो हैं—विवाह और परिवार। इन्हीं की नींव पर नागरिक-समाज का निर्माण होता है जिसका पूर्ण विकास राज्य-संस्था है। यह संस्था अन्य संस्थाओं की ही भाँति कोई बाहरी वस्तु नहीं है, वह हमारे नैतिक आदर्शों का ही मूर्त रूप है। राज्य का लक्ष्य आदर्श-प्रत्यय का आत्म-लाभ (The Realization of the Absolute Idea) है। इस आदर्श के लिए राज्य को अधिकार है कि वह व्यक्तिगत लाभ का विचार न करके उसका बलिदान कर दे। मिल ने भी समाज के लिए व्यक्ति के बलिदान का समर्थन किया है। डा० संपूर्णानंद ने अपनी एक पुस्तक में हेगेल की राज्य संबंधी धारणा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वह "राज की प्रशंसा से गद्यकाव्य की रचना

बनने लग जाते हैं। उनके अनुसार मनुष्य को राज द्वारा ही आध्यात्मिक सत्यता प्राप्त होती है। वह कहते हैं "विश्वात्मा पृथ्वी पर अपने स्वरूप का ज्ञानपूर्वक अनुभव राज के रूप में करता है। राज की सत्ता जगत् में ईश्वर की गति है।"* इस प्रकार हम यह देखते हैं कि अध्यात्मवादी धारणा के अनुसार राज्य चित्-शक्ति के चरम विकास का ही व्यक्तीकरण है। पशुओं में इस चित्-शक्ति का अधिक विकास नहीं हुआ अतः उनमें इस प्रकार की संस्था का अभाव है। एक समय था जब कि मनुष्य में भी चित्-शक्ति अधिक विकसित नहीं थी अतः उस समय वह भी इस संस्था का निर्माण करने में असमर्थ था। किन्तु जैसे-जैसे उसका विकास हुआ राज्य की नींव पड़ी और आज उसका उन्नत स्वरूप संभव हो सका। इस धारणा के अनुसार नैतिक जीवन का पूर्ण आत्म-लाभ या विकास भी तभी होता है जब कि चित्शक्ति के विकास के फलस्वरूप आतरिक नियमों के अनुकूल संस्थाओं का विकास होता है।

राज्य की वैयक्तिक धारणा—इस धारणा के अनुसार राज्य एक निश्चित क्षेत्र पर व्यक्तियों या सरकार तथा शासित के रूप में एक संगठन है। यह संगठन जैसा कि ब्लंश्ली (Bluntschli) का मत है एक नैतिक पुलिंग व्यक्तित्व का निर्माण करता है। उसके मतानुसार राज्य पुलिंग है तथा चर्च स्त्री लिंग। इस प्रकार राज्य को धारणा एक व्यक्ति की न होकर एक पुरुष की की गई है। कुछ अन्य विद्वानों ने भी उसे एक व्यक्ति के रूप में कथित किया है, किन्तु उनके अनुसार वह एक पुरुष है अथवा स्त्री यह बात अधिक महत्व नहीं रखती।

राज्य के व्यक्तित्व को ध्यानपूर्वक देखने से यह पता चलता है कि

*देखिए—डा० संपूर्णानंद—समाजवाद, पृष्ठ २१५।

उसमें लगभग वे सभी गुण मौजूद हैं जो कि एक व्यक्ति में हुआ करते हैं। उदाहरण के लिए वह निश्चय कर सकता है तथा उस पर अमल करने की शक्ति भी रखता है। इसके साथ ही साथ वह इन कार्यों के लिए उत्तरदायी भी होता है। किन्तु गणतंत्री अथवा साम्यवादी राज्यों में इस प्रकार के निश्चय की शक्ति तथा कार्य का उत्तरदायित्व किस स्थान पर होता है यह ठीक-ठीक कहना सरल नहीं। हाँ साम्राज्यशाही अथवा तानाशाही राज्यों में राजा अथवा तानाशाह के लिए यह अवश्य कहा जा सकता है कि वे ही इन कार्यों को करने का क्षमता रखते हैं तथा अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी होते हैं। परन्तु ये राजा अथवा तानाशाह भी अपने कुछ मंत्रियों तथा सलाहकारों की ही सहायता से कार्य करने में सफल होते हैं। साथ ही साथ उन्हें अपना शक्ति बनाए रखने के लिए सेना भी रखनी पड़ती है। इस सेना को अपने प्रति स्वामिभक्त बनाए रखने के लिए उनके हितों का भी ध्यान अनेक कार्यों को करते समय उन्हें रखना पड़ता है। अतः यह कहना कि वे स्वतंत्रतापूर्वक कोई निश्चय अथवा कार्य करते हैं उचित न होगा। इसी प्रकार गणतंत्री अथवा समाजवादी राज्यों में भी लोगों की परिषदें ये कार्य करती हैं, अतएव उनकी सम्मिलित शक्ति को ही यदि एक व्यक्तित्व मान लिया जाय तो यह अवश्य कहा जा सकता है कि राज्य मनुष्य के ही समान निश्चय अथवा कार्यों को करने की क्षमता रखता है।

राज्य की शक्ति संबंधी धारणा—राज्य के संबंध में अनेक विद्वानों का यह मत रहा है कि वह एक बड़ी शक्ति से संपन्न वस्तु है। या यह भी कहा जा सकता है कि राज्य का प्रमुख गुण उसकी शक्ति ही है। इसी शक्ति के द्वारा वह समाज में उन लोगों को दबा कर रखता है जो उद्दंड हैं तथा शांति भंग करने वाले हैं। यही नहीं इसी शक्ति का प्रयोग उन लोगों पर जो कि शांतिपूर्वक रहना पसंद करते

है इस लिए किया जाता है ताकि वे उन मार्गों को छोड़ कर शांति भंग करने के लिए उद्यत न हो जायँ। शक्ति-संबंधी इस धारणा के लोग जर्मनी में अधिक हुए हैं। फ़िक्टे (Fichte) तथा हेगेल (Hegel) ने भी राष्ट्रीय एकता तथा सामाजिक नियंत्रण के लिए राज्य का शक्ति पर गौरव दिया है। ट्रीत्शे का मत भी इसी प्रकार का है। उसने एक स्थान पर कहा है कि "यदि राज्य को ऐसा महत्व-पूर्ण स्थान दिया जाय जैसा कि फ़िक्टे और हेगेल उसे प्रदान करते हैं तो यह स्पष्ट है कि उसके महत्व का आधार उसकी शक्ति ही होगी।" जर्मनी में कुछ विद्वानों ने तो उसे ही एक शक्ति मान लिया और उसका फल यह हुआ कि वहाँ बड़ी शक्तिशाली सरकारें बनीं। लोकतंत्री सरकारों के स्थान पर तानाशाही सरकारों का प्रभुत्व हुआ और राज्य के तथाकथित आदर्श को प्राप्त करने के लिए उसका आधार सैन्य-बल रखा गया। इसी सैन्य-शक्ति के द्वारा जर्मनी में दमन-चक्र चला और वहाँ की राष्ट्रीय एकता कायम करने का प्रयत्न किया गया। किन्तु मैकेंज़ी के अनुसार यह एक आदर्श राज्य होना तो दूर रहा उसे कुछ अर्थों में राज्य भी कहना कठिन है (Germany, so far from being the ideal State, is still, in some respects hardly a State at all)*

डा० बोसांके ने हेगेल के कुछ ऐसे लेखों के आधार पर जिनमें कि शक्ति की महत्ता को स्पष्टतया ठुकराया गया है यह कहा है कि उसने कभी राज्य को एक शक्ति के रूप में कथित नहीं किया। किन्तु साथ ही साथ हेगेल ने राज्य के महत्व पर इस प्रकार ज़ोर दिया कि उसके बिना एकता की स्थापना हो ही नहीं सकती। इस प्रकार यह अवश्य कहा जा सकता है कि राज्य से उनका आशय एक शक्ति से अवश्य

*देखिए—Mackenzie, J. S.—Outlines of Social Philosophy. पृष्ठ—१४६

रहा होगा। कुछ भी हो उनके संबंध में यह बात विवादास्पद ही है।

हाब्स (Hobbes) ने भी राज्य की शक्ति पर बहुत गौरव दिया है। उनके मतानुसार सामान्य नैतिक आचरणों का कारण राज्य ही है। हाब्स का यह भी मत है कि राज्य का महत्व उस सुरक्षा में है जो वह समाज को व्यक्तिगत स्वार्थों के विरुद्ध प्रदान करता है। उसके इस कथन से भी राज्य के एक शक्ति होने की धारणा की पुष्टि होती है। इसका कारण यह है कि व्यक्ति अपने स्वार्थों की पूर्ति समाज के हानि-लाभ का ध्यान न रखते हुए करना चाहता है। ऐसी दशा में उससे यह आशा करना कि वह स्वयं समाज के लिए आत्म-बलिदान करेगा भूल होगी। इस प्रकार सामाजिक हित साधन के लिए यही एक उपाय रह जाता है कि कोई शक्ति व्यक्ति को समाज की उपेक्षा करके अपना व्यक्तिगत हित-साधन करने से रोके। ऐसी शक्ति राज्य ही है।

राज्य की यांत्रिक धारणा—आज के युग की प्रवृत्ति व्यक्ति को अधिक से अधिक स्वातंत्र्य प्रदान करने की ओर है। इतिहास हमें यह बताता है कि कुछ समय पूर्व तक राज्य की शक्ति द्वारा मनुष्य की व्यक्तिगत स्वतंत्रता का नियंत्रण किया जाता था। लोगों का विश्वास था कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता सामाजिक-उन्नति तथा सामाजिक-उद्देश्यों की प्राप्ति में बाधक होती है। इसके साथ साथ राष्ट्रीय अथवा सामाजिक एकता की स्थापना भी इस प्रकार के नियंत्रण के बिना संभव नहीं है। अतः दृढ़ राज्यों की स्थापना समय-समय पर होती रही। किन्तु इसके बावजूद भी समाज की वह उन्नति न हो सकी जो वास्तव में होनी चाहिए थी। हाँ यह अवश्य हुआ कि कुछ थोड़े से सत्ता-संपन्न व्यक्ति ही प्रभुत्व प्राप्त करके सुख का अनुभव कर सके। सत्ता प्राप्त करने के पश्चात् इन थोड़े से व्यक्तियों को यह भय उत्पन्न हुआ कि कहीं हमारा अधिकार अन्य व्यक्ति हमसे

छीन न लें। इस भय के कारण उन्होंने अपनी आर्थिक, सैनिक तथा राजनीतिक शक्ति बढ़ाई। इसके लिए उन्होंने प्रजा का शोषण करना प्रारंभ कर दिया ताकि प्रजा की शक्ति तो कम हो साथ ही उनकी अपनी शक्ति बढ़ जाय। इस प्रकार राज्य सामाजिक उन्नति तथा सामाजिक एकता का साधन होने के स्थान पर शोषण एवं दमन का कारण बन गया। इसका उल्लेख करते हुए एँगेल्स ने कहा है कि "As the state arose from the need to hold class antagonisms in check, but as it arose, at the same time, in the midst of the conflict of these classes, it is, as a rule, the state of the most powerful, economically dominant class, which, through the medium of the state, becomes also the politically dominant class, and thus acquires new means of holding down and exploiting the oppressed class."* डा० संपूर्णानंद ने भी एक स्थान पर यह लिखा है कि "राज वस्तुतः वर्ग-संघर्ष को, मात्स्यन्याय को, मिटाने के लिए नहीं वरन् उसको सुव्यवस्थित करने के लिए स्थापित हुआ। व्यवस्था के अभाव में जैसा कि मैंने पहले कहा है, उत्पीड़क भी न रह जाते। आवश्यकता इस बात की थी कि बड़ी मछलियों को आहार मिलता रहे, इसलिए छोटी मछलियाँ संख्या में भी काफ़ी हों और मोटी-ताज़ी भी हों। इसके साथ ही साथ यह भी देखना था कि यह इतनी बलवान् न हो जायँ कि बड़ी मछलियों का मुकाबिला करने लग जायँ"।**

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि राज्य शोषण करने का एक साधन मात्र रह गया था, अतः लोग उससे काफ़ी असंतुष्ट हो गए और

*देखिए—Marx and Angels—Selected Works. पृष्ठ २६०

**देखिए—डा० संपूर्णानंद—समाजवाद। पृष्ठ २२४

यह चाहने लगे कि किसी प्रकार राज्य के संगठन को शिथिल किया जाय। अतः समाजवादी अथवा जनतंत्री राज्य की व्यवस्था की गई। इस व्यवस्था में किसी व्यक्ति अथवा वर्ग विशेष के हाथों में राज्य संचालन की शक्ति नहीं सौंपी गई बल्कि लोगों के चुने हुए प्रतिनिधि ही राज्य के कर्णधार बनाए गए। अब यह भय न रहा कि प्रजा का शोषण होगा। अब राज्य न तो ईश्वर की इच्छा रही, और न कोई शक्ति, बल्कि यह एक ऐसी संस्था बन गया जो लोगों की शांति तथा सुरक्षा का प्रबंध करता है। इस प्रकार के राज्य को कुछ लोगों ने एक यांत्रिक वस्तु कहा है। एंगेल्स तथा प्रिंस क्रोपाट्किन प्रभृति विद्वानों के मतानुसार, यदि सारे लोग समझ-बूझकर समाज के हित के लिए कार्य करने लग जायँ तो इस प्रकार के राज्य की आवश्यकता भी न रह जाएगी। एंगेल्स ने तो एक स्थान पर "The State will whither away"—राज्य मुरझाकर झड़ जायगा—वाक्य का प्रयोग किया है। ऐसी दशा में यह स्पष्ट है कि राज्य को प्रबंध करने वाले एक यंत्र से अधिक महत्व नहीं दिया गया।

राज्य की उत्पत्ति तथा विकास

राज्य की उत्पत्ति मनुष्य की अपनी सुरक्षा संबंधी आवश्यकता द्वारा हुई। सबसे पहले मानव-समाज में न तो कोई व्यवस्था थी और न कोई नियम ही थे। सारे व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत शक्ति भर सब कुछ कर सकने लिए स्वतंत्र थे। ऐसी दशा में वे ही सुख से रह सकते थे जो शक्तिशाली थे। कमजोर व्यक्ति उन शक्तिशाली व्यक्तियों के एक प्रकार से परतंत्र थे। जब कभी कोई बड़ा शिकार मारा जाता तो सबसे पहले उस समूह के तगड़े लोग अपनी इच्छानुसार अपना भाग ले लेते थे। उसके पश्चात् शेष लोग बाकी बचे हुए भाग का बँटवारा स्वयं करते थे। इसी प्रकार समाज की सुंदरी-स्त्रियों पर भी उन्हीं

का अधिकार होता था। किन्तु यह व्यवस्था बहुत समय तक न चल सकी। कमजोर व्यक्ति शक्तिशाली व्यक्तियों के चंगुल से निकलने के लिए आपस में संगठित होकर अपनी शक्ति बढ़ाने लगे। अब शक्तिशाली लोगों को भविष्य में अपने पराभव का भय हो गया, अतः उन्होंने यह सुझाव दिया कि सब मिल कर कुछ ऐसे नियम बना लें जिन्हें समाज के सभी लोग मान कर कार्य करें। किन्तु प्रश्न यह हुआ कि लोगों के उन पर अमल करने न करने का निर्णय कौन करेगा, और न करने वालों को उसका दण्ड कौन देगा? इसे हल करने के लिए लोगों ने अपने समुदाय के ही एक व्यक्ति को अपना मुखिया बना दिया। यही सबसे पहली राज्य व्यवस्था थी। आगे चल कर इस व्यवस्था में अनेक दोष पाए गए। उदाहरणार्थ वह मुखिया कुछ व्यक्तियों का पक्षपात करने लगा तथा अपने हित के लिए दूसरों के हित की अवहेलना करने लगा। अतएव लोगों ने समाज के कई व्यक्तियों को चुन कर उनकी एक परिषद् बनाई जो इस एक व्यक्ति के स्थान पर कार्य करने लगी। जिस स्थान पर मुखिया की शक्ति अधिक न थी वहाँ पर तो इस प्रकार की जनतंत्री व्यवस्था बन गई, किन्तु जिन स्थानों पर मुखिया शक्तिशाली थे वहाँ उन्हीं का शासन चलने लगा, वे राजा हो गए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निरंकुश मानव-समाज में शासन संबंधी व्यवस्था का सूत्र-पात हुआ, जिसने कालांतर में आवश्यकतानुसार अनेक रूप बदले और आज भी बदलती जा रही है। ध्यान से देखने पर यह ज्ञात होता है कि इन परिवर्तनों के मुख्य आधार निम्नलिखित थे।

(१) समाज अथवा समुदाय के अंतर्गत व्यक्तियों का आपस का समझौता, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इसमें एक

छोटे से क्षेत्र के अंतर्गत ही लोगों की शांति एवं सुरक्षा के लिए शासन संबंधी व्यवस्था का आविर्भाव हुआ। प्रारंभ में तो समुदाय छोटे-छोटे थे अतः राज्य भी छोटे-छोटे बने, किन्तु जन संख्या में वृद्धि होने पर उन राज्यों की सीमा तथा क्षेत्र में भी विस्तार हुआ।

(२) जब इस प्रकार के छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्य बन गए तो यह भय उत्पन्न हो गया कि वहीं दूसरे पड़ोसी राज्य जो अन्य राज्यों से अधिक शक्तिशाली हैं कम शक्ति वाले राज्यों को हड़प न कर लें। लोगों का यह भय निमूल न था। समय समय पर ऐसी घटनाएँ घटित होने लगी थीं, अतः यह निश्चय किया गया कि एक पास स्थित होने वाले तमाम छोटे छोटे राज्य मिल कर एक संघ बना लें ताकि यह भय भी दूर हो जाय और लोग और अधिक संगठित होकर शांतिपूर्वक रह सकें। इस प्रकार अनेक राष्ट्रों, देशों अथवा संघों की स्थापना हुई।

(३) किन्तु इतने पर भी लोगों की समस्या का अंत नहीं हुआ। एक देश दूसरे देश को हड़पने के लिए प्रयत्न करने लगा जिसके फलस्वरूप संसार में अनेक लड़ाइयाँ लड़ी गईं और शक्तिशाली देशों ने संसार के बड़े-बड़े भूभागों पर अपने साम्राज्य स्थापित किए। अभी हाल का ही विश्व-युद्ध इसी साम्राज्य-लिप्सा की पूर्ति के लिए हुआ था, और उसके समाप्त हो जाने के बाद आज भी एक अन्य युद्ध की तैयारियाँ जारी हैं। आज के विचारक यह सोच रहे हैं कि यदि ऐसा ही रहा तो एक दिन मानवता ही नष्ट हो जाएगी। उसे बचाने के लिए कुछ देशों ने मिलकर एक संयुक्त-राष्ट्र-संघ (United Nations Organization) की स्थापना की, किन्तु चूँकि उसके पास राज्योचित शक्ति मौजूद नहीं है अतः वह किसी देश को कोई कार्य करने अथवा न करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता अतः एक प्रकार

से उसे असफल ही समझा जा रहा है। साथ ही साथ लोगों का सुझाव है कि संसार के सारे राज्यों को मिला कर उनका विश्व-संघ बनाया जाय जिसकी कि एक केन्द्रीय विश्व-सरकार (Central World Government) हो। इस प्रकार की एक सरकार बन जाने पर ही मानव की शांति तथा सुरक्षा संभव हो सकेगी ऐसा अनुमान किया जाता है। निस्संदेह राज्य के विकास की यह चरम अवस्था होगी।

अध्याय—६

धर्म

धर्म की भारतीय परिभाषा

'धर्म' शब्द की व्याख्या भारतीय तथा पाश्चात्य विचारकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। यही नहीं भारतवर्ष तथा योरप में समय समय पर इसी शब्द को अनेक प्रकार से समझने की चेष्टा की गई है। हमारे देश में इसका क्या अर्थ रहा है इस पर यहाँ विचार किया जायगा।

संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से 'धृञ् धारणे' धातु के आगे 'मन्' प्रत्यय लगाने से बनता है। इसकी व्युत्पत्ति तीन प्रकार से हो सकती है—(१) ध्रियते लोकः अनेन इति धर्मः, अर्थात् जिससे लोक धारण किया जाय, वह धर्म है। (२) धरति धारयति वा लोकम् इति

धर्मः, अर्थात् जो लोक को धारण करे, वह धर्म है। (३) ध्रियते ...नः स धर्मः, अर्थात् जो दूसरों के द्वारा धारण किया जाय वह धर्म है। महाभारत में इसी अर्थ को लेकर धर्म के संबंध में कहा गया है कि—

> धारणाद्धर्ममित्याहुधर्मो धारयते प्रजाः।
> यस्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥
> (कर्ण० ६९।५८)

वैशेषिक दर्शन के रचयिता महर्षि कणाद ने धर्म का लक्षण बताते हुए कहा है—यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः, अर्थात् जिससे इस लोक में उन्नति और परलोक में कल्याण या मोक्ष की प्राप्ति हो, वह धर्म है। मनु ने वेदों को धर्म का आधार बताया है—वेदोऽखिलो धर्ममूलम् (२।६)

इस प्रकार की और भी अनेक परिभाषाएँ 'धर्म' शब्द की व्याख्या करने के लिए की गई हैं, किन्तु यदि हम इन्हीं पर विचार करें तो हमें धर्म के संबंध में भारतीय दृष्टिकोण का काफ़ी परिचय प्राप्त हो जायगा।

मानव जीवन के संबंध में यदि विचार किया जाय तो पता चलेगा कि उसका चरम उद्देश्य सदैव सुख* की प्राप्ति रहा है। उद्देश्य दो प्रकार के होते हैं; एक तो वह जिसे तात्कालिक-उद्देश्य (Immediate End) कहते हैं, तथा दूसरा वह जो चरम-उद्देश्य (Ultimate End) कहलाता है। तात्कालिक उद्देश्य अनेक प्रकार के हो सकते हैं, जैसे खाना खा कर भूख शांत करना, पढ़ लिख कर

*सामान्यतया 'सुख' का अर्थ वही समझा जाता है जो अँग्रेज़ी के 'Pleasure' शब्द का होता है, किन्तु यहाँ उसका अर्थ वह समझना चाहिए जो अँग्रेज़ी के 'Happiness' शब्द का होता है।

नौकरी करना, मकान बनवा कर उसमें रहना, इलाज करके रोग से मुक्ति प्राप्त करना इत्यादि। किन्तु यदि इन सबकी तह में जाकर देखा जाय तो पता चलेगा कि इन सबके पीछे जो एक अंतिम उद्देश्य है वह सदैव एक ही रहता है, अर्थात् सुख की प्राप्ति। ऊपर के तात्कालिक उद्देश्यों को यदि लेकर देखा जाय तो ज्ञात होगा कि भूख लगने पर बड़ा कष्ट होता है और उसी के निवारणार्थ भोजन की आवश्यकता होती है। यदि भूख लगने से कष्ट न हो तो शायद भोजन करने की आवश्यकता न पड़े। भोजन कर चुकने पर यह कष्ट शांत हो जाता है और मनुष्य एक प्रकार का सुख अनुभव करने लगता है। इसी प्रकार पढ़ लिख कर अथवा उचित योग्यता प्राप्त कर लेने पर मनुष्य नौकरी करता है और धनोपार्जन करके अपनी अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। आवश्यकताओं की पूर्ति यदि न हो तो उसे अवश्य ही बड़ा कष्ट हो, किन्तु उस कष्ट को दूर करने के लिए नौकरी करना आवश्यक है और उसके लिए उचित योग्यता का संपादन करना भी आवश्यक है। अतएव योग्यता के संपादन करने से भी सुख की प्राप्ति होती है। मकान के अभाव में भी मनुष्य को कष्ट होता है अतः यदि वह बनवा लिया जाय तो उसके न होने के कष्ट के निवारणस्वरूप उसे सुख प्राप्त होता है। इलाज कराने से रोग से मुक्ति प्राप्त होती है और रोग से मुक्त होने पर सुख होता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि वे लोग जो किसी कारणवश अपने शरीर को कष्ट देते हैं अथवा आत्महत्या करते हैं, उन्हें भी क्या इन कार्यों से अंत में सुख की ही प्राप्ति होती है? विचार करने से यह पता चलता है कि अवश्य उन्हें उससे सुख मिलता है। जीवित रहना जब मनुष्य के लिए मृत्यु से अधिक दुःखदायी प्रतीत होने लगता है, तो निश्चय ही मृत्यु उसके लिए जीवित रहने की अपेक्षा अधिक सुखकर प्रतीत होती है, और तभी वह आत्महत्या करता है। इस प्रकार हम

यह देखते हैं कि हमारे सारे कार्यों का अंतिम लक्ष्य सुख की प्राप्ति ही है।

अब देखना यह है कि मानव जीवन के कितने पहलू हैं जिनमें वह इस सुख की प्राप्ति चाहता है? कुछों के आदर्शानुसार जीवन के प्रमुख पहलू दो हैं; एक व्यक्तिगत, तथा दूसरा सामाजिक। किन्तु एक अन्य आदर्श के अनुसार ये पहलू तीन हैं; एक व्यक्तिगत, दूसरा सामाजिक, तथा तीसरा पारमार्थिक (Other Wordly). भारतीय आदर्श के अनुसार जीवन के यही तीन पहलू हैं। इससे यह मानने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती कि भारतीयों का उद्देश्य जीवन के इन तीनों क्षेत्रों में सुख की प्राप्ति करना रहा होगा। यहाँ भी एक प्रश्न यह पूछा जा सकता है कि क्या जीवन के इन तीनों क्षेत्रों में दुःख की संभावना है? यदि वास्तव में है तब तो यह कहना उचित होगा कि सुख की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता होती है। किन्तु जीवन के तीनों क्षेत्रों में अथवा केवल किसी एक या दो में दुःख की संभावना है ही नहीं तो उनमें सुख की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होने की बात कहना कोई अर्थ नहीं रखता। व्यक्तिगत जीवन में तथा सामाजिक जीवन में हम यह स्पष्टतया देखते हैं कि मनुष्य के लिए दुःखी होने की बड़ी गुंजायश है। व्यक्तिगत जीवन में वह रोगी हो सकता है, मानसिक व्याधियों अथवा चिंताओं से ग्रस्त हो सकता है, तथा किसी वस्तु के अभाव के कारण व्यथित हो सकता है। सामाजिक जीवन में मनुष्यों में आपस में सहकारिता, प्रेम-भाव, आत्म बलिदान इत्यादि बातों के अभाव के कारण अनेक ऐसी बातें उत्पन्न होती रहती हैं जो उसे कष्ट पहुँचाती हैं। इसी प्रकार पारलौकिक जीवन में भी इसकी बड़ी संभावना रहती है। यदि मनुष्य को अपने कर्मानुसार नरक की प्राप्ति हुई तो वह अवश्य कष्ट भोगेगा। साथ ही स्वर्ग की प्राप्ति को भी

अधिक सुखदायक नहीं माना गया। कारण यह कि पुण्य-कर्मों के क्षीण हो जाने पर मनुष्य को पुनः स्वर्ग छोड़ कर कार्य करने के लिए जन्म लेना होता है, और इस प्रकार आगे दुःखों के आने की संभावना रहती है।

पुनः यदि हम ऊपर दी गई 'धर्म' शब्द की परिभाषाओं पर विचार करें तो पता चलेगा कि धर्म का प्रमुख उद्देश्य मनुष्य को जीवन के इन्हीं तीनों क्षेत्रों में सफलता अथवा सुख की प्राप्ति कराना है। व्याकरण की दृष्टि से की गई 'धर्म' शब्द की व्याख्या के अनुसार जिसके द्वारा लोक धारण किया जाय अथवा जो लोक को धारण करे वह धर्म है। लोक धारण के क्या अर्थ हैं? यह बात विचारणीय है। लोक का अर्थ है समाज अथवा मनुष्यों का सामाजिक जीवन, और उसको धारण करने का तात्पर्य है उसके जीवन की रक्षा करना। समाज के जीवन की रक्षा तथा उसकी उन्नति तभी संभव हो सकती है जब कि उसमें संगठन हो, तथा ऐसी व्यवस्था की गई हो जिससे लोगों के पारस्परिक आदान-प्रदान में तथा सामूहिक प्रयत्नों में कोई बाधा न आवे। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि सामाजिक संगठन भारतीय आदर्शानुसार धर्म का कार्य है। इसको प्राप्त करने के लिए भारतवर्ष में वर्ण-व्यवस्था की स्थापना की गई थी।

धर्म की दूसरी परिभाषा अधिक व्यापक है तथा वही उसके वास्तविक-उद्देश्य की व्याख्या करती है। 'जिससे अभ्युदय तथा निःश्रेयस की सिद्धि हो वह धर्म है'। अभ्युदय का अर्थ है लौकिक जीवन की सफलता तथा निःश्रेयस का अर्थ है पारमार्थिक जीवन की सफलता अथवा मोक्ष की प्राप्ति। भारतीय आदर्शानुसार मनुष्य के चार पुरुषार्थ बताए गए हैं, जिनकी प्राप्ति ही उसके जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। ये पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म

से अर्थ (Material Welfare), तथा काम (Social Welfare) की प्राप्ति होती है। और धर्म के द्वारा अर्थ और काम की प्राप्ति हो जाने पर मोक्ष प्राप्त होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि धर्म ही हमारे लौकिक जीवन की सफलता का कारण है, तथा उसी से अंत में मनुष्य को परमानंद (Absolute Happiness) की प्राप्ति होती है। या यह भी कहा जा सकता है कि धर्म ही मानव के संपूर्ण जीवन की अंतिम सफलता का कारण है।"

धर्म तथा दर्शन—भारतवर्ष में सदैव से ही धर्म और दर्शन का अन्योन्याश्रय संबंध रहा है। दर्शन का उद्देश्य मानव की बुद्धि को विकसित करने एवं कुछ समस्याओं का हल तलाश करने के प्रयत्न तक ही सीमित नहीं है। उसका उद्देश्य भी धर्म की ही भाँति मनुष्य को मोक्ष की प्राप्ति कराना रहा है। यहाँ यह पूछा जा सकता है कि यदि दोनों का उद्देश्य एक ही है तो फिर उनमें अंतर क्या है! अंतर यह है कि दार्शनिक मनन व चिंतन से ज्ञान की प्राप्ति होती है, और ज्ञान की प्राप्ति ही आत्मा तथा परमात्मा की एकता (Unity) का कारण होती है, यही मोक्ष है। किन्तु धर्म का संबंध बुद्धि से उतना अधिक नहीं है जितना कि आचरण (Action) से है। परन्तु साथ ही साथ यह जान लेना भी आवश्यक है कि धर्माचरण से भी ज्ञान की प्राप्ति होकर तब मोक्ष की प्राप्ति होती है, अतएव ज्ञान की प्राप्ति धर्म तथा दर्शन दोनों का ही तात्कालिक उद्देश्य कहा जा सकता है। इसी से भारतीय धर्म बुद्धिवादी (Rational) रहा है, कट्टरतावादी (Dogmatic) नहीं। हैवेल (Havell) ने स्पष्टतया कहा है कि "In India, religion is hardly a dogma, but a working hypothesis of human conduct, adapted to different stages of spiritual developmet and different conditions

of life."*

जिस प्रकार दार्शनिक चिंतन धार्मिक-जीवन का एक आवश्यक अंग रहा है उसी प्रकार धर्म ने भी भारतीय दार्शनिक चिंतन की प्रगति में सहायता प्रदान की है। इस संबंध में डा० राधाकृष्णन ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "The problems of religion stimulated the philosophic spirit"÷ इसके साथ ही साथ उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि धर्म ने भारत की दार्शनिक प्रगति में बाधा नहीं पहुँचाई "The supremacy of religion and social tradition in life does not hamper the free pursuit of philosophy."× परन्तु योरपीय दर्शन के इतिहास को देखने से पता चलता है कि ईसाई-धर्म का आविर्भाव ग्रीक-दर्शन के प्रति एक असंतोष की भावना से हुआ। लोग दार्शनिक विवादों से ऊब गए थे। इसके पश्चात् ईसाई धर्म के अभ्युदय-काल में दर्शन कोई विशेष उन्नति न कर सका।+ यह बात दूसरी कि ईसाई धर्म को बाद में अपने सिद्धांतों का दूसरों के समक्ष प्रतिपादन करने के लिए यौक्तिक मण्डन की आवश्यकता पड़ी, और इस प्रकार उसने दर्शन का सहारा लिया। किन्तु इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि योरप में धर्म तथा दर्शन में ऐसा अन्योन्याश्रय संबंध नहीं रहा जैसा कि भारतवर्ष में है।

*देखिए—Aryan Rule in India पृष्ठ—१७७। See The article on 'The Heart of Hinduism' Hibbert Journal. October, १९२२।

÷देखिए—RadhaKrishnan, S.—Indian Philosophy प्रथम भाग, पृष्ठ २६।

×वही—पृष्ठ २७।

+देवराज तथा जैतली—पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास;

धर्म संबंधी भारतीय तथा पाश्चात्य धारणाओं में अंतर—
ऊपर हमने धर्म की भारतीय व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, किन्तु चूँकि धर्म संबंधी पाश्चात्य धारणाएँ इससे भिन्न हैं अतः इनका भेद समझ लेना आवश्यक है। इससे पाश्चात्य धारणाओं को समझने में भी सरलता होगी।

प्रायः लोगों का यह विचार है कि भारतीय धर्म ईश्वरीय अनुभव का साधन है। इस कथन में सत्य की कुछ मात्रा अवश्य है, पर इसे बिल्कुल ठीक मान लेना भूल होगी। यदि हिंदू दर्शनों को देखा जाय तो ज्ञात होगा कि उनमें से कई दर्शन नास्तिक हैं। इन नास्तिक दर्शनों में ईश्वर का कोई स्थान ही नहीं है। ऐसी दशा में यह कहना कि हिन्दू विचारों के अनुसार धर्म ईश्वरीय अनुभव की प्राप्ति का साधन है, उचित न होगा। परन्तु लगभग सभी दर्शन मोक्ष में विश्वास करने के साथ साथ उसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य को ज्ञान का प्रकाश कराते हैं। अतएव यह सरलता पूर्वक माना जा सकता है कि हिंदू आदर्श के अनुसार धर्म मोक्ष की प्राप्ति में सहायक होने वाला एक साधन है। इसके विपरीत सभी पाश्चात्य दर्शन तथा धर्म* मोक्ष में विश्वास नहीं करते किन्तु साथ ही साथ धर्म की वास्तविकता को स्वीकार करते हैं। अतः योरोपीय मत के अनुसार धर्म की यह परिभाषा कि वह मोक्ष की प्राप्ति का एक साधन है सर्वमान्य नहीं हो

*धर्म के दो प्रकार हैं। एक तो वह जिसके लिए अँग्रेज़ी भाषा में Natural Religion शब्द का प्रयोग होता है, तथा दूसरा वह जिसके लिए Revealed Religion शब्द का प्रयोग किया जाता है। यहाँ धर्म शब्द दूसरे अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। हम पहले के लिए 'धर्म' तथा दूसरे के लिए 'संस्थागत धर्म' शब्दों का प्रयोग करेंगे।

सकती, यद्यपि योरप में भी अनेक विचारकों ने इसे मोक्ष का साधन माना है। वैसे तो यदि विचार किया जाय तो पता चलेगा कि भारतवर्ष में अथवा किसी भी अन्य देश में धर्म की कोई ऐसी परिभाषा नहीं दी जा सकी जो हर प्रकार से सर्वमान्य हो, किन्तु यहाँ इतना अवश्य रहा है कि उसकी परिभाषा में आने वाली कुछ बातों पर लोगों में मतैक्य पाया जाता है। पर योरप में कोई भी ऐसी बात नहीं देखने को मिलती जिससे सब सहमत हों।

धर्म की पाश्चात्य धारणा

परिभाषा—चूँकि योरप में ईश्वर, मोक्ष, दर्शन, नैतिकता तथा आचरण संबंधी धारणाओं में बड़ी विविधता रही है, अतएव उनके प्रकाश में धर्म की कोई एक ऐसी परिभाषा नहीं दी जा सकती जिसके बारे में हम यह निश्चयपूर्वक कह सकें कि धर्म के संबंध में यह योरपीय धारणा है। पर फिर भी यहाँ कुछ परिभाषाओं पर विचार कर लेना आवश्यक होगा।

मेकेंज़ी ने धर्म की परिभाषा करते हुए कहा है कि—"Religion in its most developed forms, seems to mean essentially a certain absolute devotion to what is recognized as highest and most valuable." अर्थात् धर्म की बहुत उन्नत अवस्था में एक सर्वोच्च तथा अत्यंत महनीय वस्तु के प्रति गहरी निष्ठा होती है।* बोसांके की इस परिभाषा में—"Wherevre we have devoutness, devotedness, devotion, we have the primary features of religion."** हम यह देखते हैं कि भक्ति एवं निष्ठा

*देखिए—Mackenzie, J. S.—Outlines of Social Philosophy, पृष्ठ २०६।

**Bosanquet—Value and Destiny of the Individual. पृष्ठ २५।

पर बड़ा गौरव दिया गया है। यहाँ यह बात विचारणीय है कि जिस वस्तु के प्रति श्रद्धा अथवा निष्ठा की बात कही गई है वह क्या है? अवश्य वह वस्तु एक अकथनीय सत्ता है जिसका स्वरूप शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं हो सकता। उसे यदि ईश्वर मान लिया जाय तो कोई हानि न होगी। परंतु दूसरी ओर ऐसे विचारक भी हैं जिन्होंने ईश्वरीय सत्ता अथवा किसी दूसरी ऐसी ही रहस्यमय सत्ता को मानने से इन्कार किया है। ऐसी दशा में यह व्याख्या उनके लिए कोई अर्थ नहीं रखती। कतिपय आधुनिक जड़वादी विचारकों ने तो धर्म के लोगों को इन शब्दों द्वारा भुलावे में डालने की वस्तु घोषित किया है। उनके मतानुसार सत्ता तथा धन-संपन्न लोगों के हाथ में धर्म एक ऐसा शस्त्र है जिसके द्वारा वे छोटे व्यक्तियों का नैतिक दमन करते हैं। वास्तव में उच्चवर्ग के लिए धर्म कोई वस्तु नहीं है। लेनिन ने तो एक स्थान पर कहा है कि "The deepest roots of religion to day is the social oppression of the working masses"* मार्क्स के मतानुसार धर्म लोगों को भुलावे में डालने वाली अफ़ीम है—"It is the opium of the people." **

जिन धारणाओं का ऊपर उल्लेख किया गया है, वे बहुत अंशों में अन्युक्ति पूर्ण ही हैं। योरप में धर्म के बारे में लोगों की सामान्य धारणा क्या है, इसका परिचय इन परिभाषाओं से नहीं प्राप्त हो सकता। उसे भली प्रकार समझने के लिए मेरी दृष्टि में यह आवश्यक है कि धर्म का विकास, उसका अन्य विषयों से संबंध तथा मानव-जीवन पर उसका प्रभाव आदि बातों पर विचार कर लिया जाय।

---

*देखिए—Lenin—Selected Works. Vol XI, पृष्ठ ६६७।

**Marx, K—Hegel's Philosophy of Law.

इस प्रकार अंत में हम उसके सामान्य स्वरूप की एक रूप रेखा पा सकेंगे।

धर्म की उत्पत्ति तथा विकास

धर्म की उत्पत्ति कैसे हुई, इस पर विद्वानों में बड़ा मतभेद है। एन्ड्रयूलैंग (Andrew Lang) का मत है कि धर्म की सर्व-प्रथम धारणा एक "परम पिता" की धारणा थी जो कि एक समुदाय अथवा जाति के मुखिया का पारलौकिक रूप था। इस "परम पिता" के लिए लैंग महोदय ने "All Father" शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने अपने इस विश्वास को सिद्ध करने के लिए कुछ आदिम जातियों (Primitive Tribes) में पाए जाने वाले इस प्रकार के कतिपय विचारों का सहारा लिया है। इसी प्रकार सी० जी० सेलिगमैन (C. G. Seligman) ने इस संबंध में एक "उच्च देवता" (High God) की बात कही है। किन्तु चूँकि उनकी धर्म की उत्पत्ति संबंधी धारणा लैंग महोदय की धारणा से मिलती जुलती है अतः इस पर कुछ अधिक कहना आवश्यक नहीं जान पड़ता है।

कुछ विचारकों का कथन है कि प्रारंभ में मनुष्य प्राकृतिक शक्तियों के मध्य एक अत्यंत असहाय प्राणी था। वह न तो उन शक्तियों से अपनी रक्षा कर सकता था और न उनके रहस्य को समझता ही था। अतः बादल की गरज उसे अवश्य व्याकुल करती रही होगी। पर आज बादल चाहे जितना गर्जे आज का मनुष्य बड़ी निश्चिन्तता से अपने कमरे में बैठ कर शयन करता रहता है। उस पर उसका विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। इसका कारण यह है कि आज के मनुष्य ने प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के साथ साथ उसके रहस्यों को नियमों (Laws) के रूप में बहुत हद तक जान भी लिया है। आदिम मनुष्य इसके विपरीत न तो प्राकृतिक शक्तियां यथा बिजली, वर्षा, तूफान, बाढ़

इत्यादि से अपनी रक्षा कर सकता था और न उनके नियमों से परिचित ही था। आज यदि कोई वायुयान यात्रा प्रारंभ करने को होता है तो उसके चालक को कई दिन बाद तक घटित होने वाले मौसम की सूचना पहले से ही प्राप्त हो जाती है जिसके आधार पर वह अपनी यात्रा की योजना बनाता है। किन्तु उस समय प्रत्येक घटना आकस्मिक होती थी। यही कारण था कि उस समय का मनुष्य प्रकृति की शक्तियों से हर समय भयभीत बना रहता था। इसी भय ने उस समय धर्म को जन्म दिया। इस प्रकार धर्म की प्रथम अवस्था प्राकृतिक शक्तियों में श्रद्धा तथा उनकी पूजा थी।

शोपेनहावर (Schopenhauer) के मतानुसार धर्म तथा दर्शन की उत्पत्ति मृत्यु की घटना से हुई।* यदि मनुष्य मरता न होता तो न तो चिंतन की उत्पत्ति हुई होती और न पूजा की। मृत्यु ने ही मनुष्य को जीवन के रहस्य पर विचार करने तथा अपने को मरने से बचाने के लिए विचार करने तथा धर्माचरण करने के लिए प्रेरित किया।

प्रारंभ में जब कि मनुष्य प्राकृतिक-शक्तियों के रहस्य को समझने में असमर्थ था, उसने अपना काम चलाने के लिए तंत्र (Magic) का सहारा लिया। उसका विश्वास था कि वह प्रकृति की शक्तियों से कुछ अनुष्ठानों के द्वारा इच्छित फल प्राप्त कर सकता है। परंतु जे० जी० फ्रेज़र (J. G Frazer) के अनुसार जब वह इन अनुष्ठानों द्वारा अपने इच्छित फलों की प्राप्ति में असफल हुआ तभी धर्म की उत्पत्ति हुई। तंत्र से संबंधित क्रियाएँ प्राकृतिक शक्तियों को शत्रु मान कर उनको कुछ कार्यों के लिए बाध्य करने के हेतु की जाती

*देखिए—शोपेनहावर द्वारा लिखित "Man's Need of Metaphysics" नामक लेख।

थीं। किन्तु धार्मिक क्रियाओं का उद्देश्य उन्हें मनुष्य का मित्र बनाने के लिए उनसे अनुरोध करना था।

इस प्रकार की अनेक धारणाएं धर्म की उत्पत्ति के संबंध में मौजूद हैं, जिन सबका यहाँ उल्लेख करना असंभव है। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि इन समस्त धारणाओं में सत्य का कुछ अंश अवश्य मौजूद है। कौन सी धारणा ठीक है, कौन सी गलत यह कहना नितांत कठिन है।

यह तो हुई धर्म की उत्पत्ति के संबंध की बात। उसके विकास के क्रम पर यदि विचार करें तो हम उसे निम्नलिखित विभागों में बाँट सकते हैं—(१) आदिम (Primitive), (२) जातीय (Tribal), (३) राष्ट्रीय अथवा पौरोहित्य (National or Priestly), (४) सार्वभौमिक (Universal) तथा (५) जीवित धर्म (Living Religions)*

धर्म तथा विज्ञान

संसार में समय समय पर अनेक धर्म, दर्शन, विज्ञान, तथा कलाओं का जन्म हुआ है। इनकी उत्पत्ति किसी उद्देश्य विशेष से हुई, अथवा निरुद्देश्य यह बात विचारणीय है। इसे समझने के लिए यह आवश्यक होगा कि इनकी उत्पत्ति तथा विकास के इतिहास को देखा जाय। धर्म की उत्पत्ति के संबंध में हम ऊपर थोड़ा बहुत कह आए हैं। हमने यह देखा कि उसकी उत्पत्ति मनुष्य की अपनी कुछ आवश्यकताओं द्वारा हुई। प्रकृति की शक्तियाँ उसकी शांति में बाधा पहुँचाती थीं तथा उनकी आकस्मिक घटनाएँ उसके अभीष्ट की शत्रु थीं। अतएव

---

*इनका विस्तृत वर्णन E. S. Brightman की पुस्तक "A Philosophy of Religion" से प्राप्त किया जा सकता है। पृष्ठ २६ से ४४ तक।

उनसे अपना काम निकालने के लिए उसने धर्म का आविष्कार किया। इसी प्रकार यदि हम विज्ञान के इतिहास को देखें तो यह ज्ञात होता है कि उसका भी उद्देश्य प्राकृतिक शक्तियों के रहस्य को समझना तथा उनसे अपना काम चलाना रहा है। इस प्रकार धर्म तथा विज्ञान के उद्देश्यों में विशेष अंतर नहीं दिखाई देता। हाँ इतना अंतर अवश्य है कि धर्म जीवन का विस्तार इस संसार के आगे भी मानता है, तथा कुछ ऐसी बातों में विश्वास करता है जिनका प्रत्यक्ष प्राकृतिक उपादानों द्वारा संभव नहीं। उनका अनुभव आत्मा द्वारा ही संभव है। किन्तु विज्ञानों का क्षेत्र केवल भौतिक जगत तक ही सीमित है। परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि इन दोनों के मूल उद्देश्यों में कोई बड़ा अंतर है।

बहुत समय तक धर्म तथा विज्ञान में कोई महत्वपूर्ण विरोध नहीं रहा, पर बाद का इतिहास यह बताता है कि जैसे-जैसे इनमें विकास हुआ दोनों एक दूसरे से दूर होते गए और एक समय ऐसा आया जब कि योरप में धार्मिक लोग वैज्ञानिकों के शत्रु हो गए, तथा वैज्ञानिक धार्मिक लोगों के। इसी विरोध तथा वैमनस्य के कारण वहाँ अनेक झगड़े हुए और कई बार अनेक विद्वानों को अपने वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा विश्वासों के कारण अपनी जान तक गँवानी पड़ी है। इसका प्रमुख कारण यह रहा है कि धर्म ने मनुष्य के बढ़ते हुए ज्ञान तथा बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार अपने विश्वासों में आवश्यक परिवर्तन करने से इन्कार किया। यदि उसके विश्वास भी उसी प्रकार बदलते रहते जैसे कि परिस्थितियाँ प्रतिक्षण बदलती रहती हैं, तो धर्म तथा विज्ञान के मध्य शायद यह विरोध उत्पन्न न हुआ होता।

इसके साथ साथ धर्म तथा विज्ञान में एक और भेद है। धर्म की प्रवृत्ति सदैव से ही इस संसार से परे एक अदृश्य शक्ति की ओर

रही है। इस संसार में उसे उतनी रुचि नहीं है जितनी कि इसमें बाहर के किसी अन्य लोक में है। उस लोक अथवा शक्ति का ज्ञान भी धर्म द्वारा उस समय तक प्राप्त नहीं होता जब तक कि मनुष्य स्वयं उसमें जाकर मिल न जाय। यहाँ रह कर तो उसे उन पर केवल विश्वास ही करना पड़ता है। यही विश्वास उसे उस अलौकिक शक्ति की प्राप्ति कराने में सहायक होता है। इसके विपरीत विज्ञान की रुचि केवल इस संसार से संबंधित वस्तुओं तक ही सीमित है। उन सभी वस्तुओं को वह कोई महत्व नहीं देता जो उसके अनुभव में नहीं आतीं। और चूँकि वे अनुभव में नहीं आतीं और उन पर वह प्रयोग भी नहीं कर सकता अतः उसका उनमें विश्वास भी नहीं है।

धर्म तथा अंधविश्वास

यह देखा गया है कि धार्मिक विश्वासों के ही कारण संदेह तथा तर्क की उन्नति हुई, यद्यपि यह कहना कठिन है कि धार्मिक विश्वासों ने ही संदेह अथवा तर्क को जन्म दिया। मानव बुद्धि जब तक अधिक विकसित नहीं हुई तब तक तो उसके लिए केवल विश्वास का ही सहारा था, किन्तु जैसे जैसे उसमें विकास हुआ उसने उन विश्वासों का परीक्षण करना प्रारंभ कर दिया, और साधारणतया एक बुद्धिवादी को वे ही बातें मान्य होती हैं जो बुद्धि की कसौटी पर खरी उतर आती हैं। धर्म के कट्टर पक्षपातियों ने बुद्धि की कसौटी से इन्कार किया और कहा कि केवल श्रद्धा तथा निष्ठा से ही मनुष्य का कल्याण हो सकता है। धर्म की यही प्रवृत्ति अंधविश्वास कहलाती है।

कुछ लोग यह अवश्य यह मानते हैं कि धर्म का आधार ही अंधविश्वास है, किन्तु यह मानना उनकी भूल होगी। विज्ञान में भी

जब किसी सिद्धांत की खोज की जाती है तो उसके लिए पहले से एक काल्पनिक-सिद्धांत (Hypothesis) कायम कर लिया जाता है। यदि ऐसा न किया जाय तो निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना असंभव हो जाय। कोई भी क्रिया बिना किसी आधार शून्य में संभव नहीं है। इसी प्रकार धर्म की अपनी अलग कल्पनाएँ हैं, अपने अलग विश्वास हैं जिनके आधार पर मनुष्य को अपने जीवन का निर्माण करना होता है। हाँ यह बात दूसरी कि मनुष्य इन विश्वासों के सामने किसी अन्य बात को सुनने में ही इन्कार कर दे। ऐसी अवस्था में ये विश्वास अंधविश्वास हो जाते हैं और उनके द्वारा मानव जीवन की प्रगति में बाधा पहुँचने लगती है। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि यद्यपि धर्म में इनका स्थान आ जाता है, किन्तु फिर भी ये उसके आवश्यक अंग नहीं हैं।

धर्म संबंधी सिद्धांत

धर्म के स्वरूप को समझने के लिए निम्नलिखित सिद्धांतों पर विचार करना आवश्यक है। (१) स्वातंत्र्य सिद्धांत (Autonomous Theory); (२) तत्त्व शास्त्रीय सिद्धांत (Metaphysical Theory); (३) नीति शास्त्रीय सिद्धांत (Ethical Theory)।

स्वातंत्र्य सिद्धांत—इस सिद्धांत की झलक हमें सबसे पहले हामन (Hamann) और जैकोबी (Jacobi) के विचारों में मिलती है। इसके पश्चात् इसका स्पष्ट स्वरूप श्लायरमाकर (Schleiermacher) की शैली में प्राप्त होता है। इस सिद्धांत के अनुसार धर्म एक स्वतंत्र क्षेत्र है जिसका कि तत्त्व-मीमांसा (Metaphysics) एवं नीति-शास्त्र (Ethics) से कोई विशेष संबंध नहीं है। तत्त्व मीमांसा का कार्य सीमित वस्तुओं (Finite Things) के सैद्धांतिक ज्ञान का संपादन करना है। इसी प्रकार नीतिशास्त्र इन्द्रिय-आचरण (Empirical Conduct) का अध्ययन

करता है। परन्तु धर्म ऐसी किसी भी वस्तु का अध्ययन नहीं करता। श्लायरमाख़र के अनुसार वह अनंतत्व के अंतर्गत समस्त परिमिति की विश्वव्यापी सत्ता की तथा शाश्वत वस्तुओं में समस्त कालसीमित वस्तुओं की अव्यवहित चेतना है, ('Religion is an immediate consciousness of the universal existence of all finitude in infinity, of all temporal things in things eternal.') उन्होंने धर्म को एक बार पूर्ण अधीनता की अनुभूति ('Feeling of absolute dependence') भी कथित किया है।

तत्वशास्त्रीय सिद्धांत—इस सिद्धांत के अनुसार धर्म विश्व का दार्शनिक ज्ञान है। प्राचीन बुद्धिवाद (Older Rationalism) के अनुसार इसका अर्थ वह ज्ञान हो सकता है जिसकी प्राप्ति मानव-बुद्धि को विचारों की सहायता से होती है, अथवा आधुनिक बुद्धिवादी प्रत्ययवाद (Modern Speculative Idealism) के अनुसार वह निरपेक्ष मन (Absolute Mind) की द्वंद्वात्मक प्रगति (Dialectical) के एक अंश का निर्माण करता है। हेगेल की परिभाषा में इन दोनों धारणाओं का बहुत कुछ समावेश हो जाता है। यह परिभाषा इस प्रकार है : धर्म निरपेक्ष मन के रूप में नियत-मन की प्रकृति का वह ज्ञान है जो उसे (नियत-मन को) प्राप्त होता है (Religion is the *knowledge possessed by the finite mind of its nature* as absolute mind) इस परिभाषा का लगभग वही अर्थ है जो कि हमें किसी भारतीय दार्शनिक परिभाषा में देखने को मिल सकता है। हेगेल के अनुसार चरम-सत्य अथवा चरम-सत्ता निरपेक्ष-मन अथवा निरपेक्ष-प्रत्यय (Absolute Mind or Idea) है। वही परम ज्ञेय भी है। उसके अतिरिक्त संसार में अन्य सभी प्रत्यय अथवा मन सापेक्ष अथवा नियत (finite) हैं। इन नियत प्रत्ययों का द्वंद्वात्मक रूप विकास होता रहता है, और इस विकास का लक्ष्य उसी परम सत्ता

के ज्ञान की प्राप्ति होती है। धर्म इसी ज्ञान का संपादन कराने का एक साधन बताया गया है। भारतीय दर्शनों के अनुसार भी परम-ज्ञेय का ज्ञान मोक्ष कहलाता है, और उसी के लिए धर्म मनुष्य को सहायता प्रदान करता है। यहाँ हम यह देखते हैं कि धर्म तथा दर्शन में भेद नहीं रहता। आगस्ट कामटे (Auguste Comte) ने तो अपनी पुस्तक 'Positive Philosophy' में यहाँ तक कहा है कि धर्म तथा दर्शन एक ही वस्तु हैं। उनके अनुसार धर्म दर्शन का पूर्व रूप है। हेगल ने भी अपनी पुस्तक 'Encyklopadie' में धर्म को दर्शन की पूर्वावस्था कथित किया है।

नीति शास्त्रीय सिद्धांत—इस सिद्धांत के अनुसार धर्म में नैतिक नियमों का समावेश होता है। वैसे तो इसका प्रारंभ अठारहवीं शताब्दी के ईश्वरवाद (Deism) से हुआ, किन्तु इसका विकसित रूप हमें इमैनुअल काट (Emanual Kant) के दर्शन में देखने को मिलता है। काट के अनुसार धर्म अलौकिक आदेशों के रूप में हमारे समस्त कर्तव्यों का ज्ञान है, 'Religion is a knowledge of all our duties as devine commands'. यहाँ भी हम यह देखते हैं कि 'ज्ञान' पर काफ़ी गौरव दिया गया है। दार्शनिक परिभाषा की प्रधानता भी ज्ञान में ही है, किन्तु अंतर यह है कि दार्शनिक परिभाषा में ज्ञान एक चरम-तत्व का आवश्यक माना गया है। पर नैतिक सिद्धांत के अनुसार चरम-तत्व के ज्ञान के स्थान पर हमारे कर्तव्यों का ज्ञान आवश्यक है। काट की परिभाषा देखने से यह ज्ञात होता है कि ये कर्तव्य हमें एक ईश्वरीय आदेश के रूप में प्राप्त होते हैं। उनकी परिभाषा उस ईश्वरीय अथवा अलौकिक सत्ता के ज्ञान का विधान नहीं करती जिससे कि हमें वे आदेश प्राप्त होते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हमें उस सत्ता में विश्वास (Faith) रखना चाहिए। दार्शनिक परिभाषा के अनुसार विश्वास करने की कोई आवश्यकता

नहीं, क्योंकि वहाँ तो ब्रह्म-सत्य ही परम-ज्ञेय है। उसको जानने के ही लिए मनुष्य सारे प्रयत्न करता है। इसके साथ-साथ, नैतिक-सिद्धांत तथा स्वातंत्र्य-सिद्धांत का भेद भी समझ लेना आवश्यक होगा। स्वातंत्र्य-सिद्धांत नैतिकता को धर्म के आश्रित मानता है। उसके अनुसार विश्व-प्रक्रियाओं की चेतना ही प्रमुख वस्तु है, नैतिकता की उसके लिए कोई आवश्यकता नहीं। किन्तु नैतिक-सिद्धांत धर्म को नैतिकता के आश्रित मानता है। कर्तव्यों की चेतना प्रमुख वस्तु है, उसके बिना धर्म संभव नहीं।

अध्याय—७

दण्डनीति
(Punishment)

दण्ड की आवश्यकता

मानव-समाज के संगठन से पूर्व मनुष्य अलग अलग रहा करते थे और उन्हें केवल अपने स्वार्थों का ही ध्यान रहता था। उसके कार्य-कलापों का दूसरों के कार्यों पर क्या प्रभाव पड़ता है इसका ध्यान उसे बिल्कुल न था। किन्तु जबसे मनुष्य ने संगठित होकर रहना सीखा उसके लिए यह आवश्यक हो गया कि वह समाज के अन्य लोगों की आवश्यकताओं का भी ध्यान रखे। यह दूसरों के सुख के साथ-साथ उसके स्वयं के भी सुख एवं शांति का कारण था। यदि कोई व्यक्ति दूसरों का ध्यान नहीं रखता तो यह निश्चय है कि दूसरे भी उसकी आवश्यकताओं में कोई रुचि नहीं रखेंगे। सामाजिक संगठन का यही अर्थ है। परंतु इसके साथ यह बात भी विचारणीय

है कि समाज के सारे व्यक्ति क्या इस प्रकार समाज के हित में कार्य करते ही रहेंगे? मानव प्रकृति में स्वार्थ की मात्रा काफ़ी है, अतः किसी भी समय कोई भी व्यक्ति मौका पाकर यह प्रयत्न करेगा कि उसके स्वार्थ का साधन किसी प्रकार हो जाना चाहिए। यदि दशा ऐसी ही रहती तो मानव-समाज का संगठन कदापि कायम नहीं रह सकता था। आज भी जो गड़बड़ी हम अपने समाज में पाते हैं उसका मूल कारण लोगों की स्वार्थवृत्ति ही है। इस स्वार्थवृत्ति को दबाने के लिए समाज में समय समय पर अनेक ऐसे नियम बनाए गए हैं, जिनके अनुसार कार्य करना मनुष्य का कर्तव्य माना गया। इतना होने पर भी यह देखा गया कि स्वार्थवृत्ति की प्रबलता मनुष्य को कर्तव्यच्युत कर देती है। इस प्रकार नियमों का होना कोई अर्थ हीं नहीं रखता, अतएव समाज के लिए यह आवश्यक हो गया कि इन नियमों का उल्लंघन करने वाले व्यक्तियों को समाज के हित में वह उचित दण्ड दे। दण्ड के भय से लोग नियमों का पालन करेंगे और इस प्रकार समाज का कार्य सुचारु रूप से चल सकेगा। ऐसा विचार किया गया। इस बात को आवश्यक मान कर समाज में जिस प्रकार समय समय पर नियम बनाए गए उसी प्रकार उन नियमों के साथ साथ उनका उल्लंघन करने पर दण्ड का विधान भी किया गया। यदि दण्ड के लिए नियम न बने होते तो निश्चय ही लोग स्वार्थ-साधन में लग जाते, उसके लिए वे आपस में लड़ते और फल यह होता कि समाज के विनाश के साथ साथ उनका स्वयं का भी विनाश हो गया होता।

मनु ने भी दण्ड की आवश्यकता बताते हुए कहा है:-

तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च।
भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च॥*

---

*देखिए—मनुस्मृति, अध्याय-७; श्लोक १५

अर्थात् उस दण्ड के भय से स्थावर, जंगम आदि सभी प्राणी भोग करने को समर्थ होते हैं, और अपने धर्म से च्युत नहीं होते। वह फिर कहते हैं:

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः दण्डएवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥÷

दण्ड ही सब मनुष्यों का शासन करता है और वही सबकी रक्षा भी करता है। दण्ड, सबके सो जाने पर, जागता रहता है। दण्ड को ही पण्डित लोग धर्म समझते हैं। इसका अर्थ यही हुआ कि धर्माचरण एवं नैतिकता की संभावना दण्ड के भय के ही कारण रहती है। मानव प्रकृति पर अविश्वास प्रकट करते हुए वह कहते हैं:

सर्वोदण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः।
दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद्भोगाय कल्पते ॥×

दण्ड से नियम में स्थापित किया हुआ लोक सन्मार्ग में स्थित रहता है। स्वभाव से शुद्ध मनुष्य दुर्लभ है, अतः दण्ड के भय से ही संसार सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने में समर्थ होता है। उनका कथन है कि यदि दण्ड का भय न हो तो बलवान व्यक्ति दुर्बलों को इस प्रकार खा जायँ जैसे शूल में छेद कर मछलियों को खाते हैं।

शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन्दुर्बलान्बलवत्तराः ॥&

दण्ड विधान का विकास

दण्ड विधान का आदि रूप यही रहा होगा जो आज हमें पशु

÷देखिए—मनुस्मृति, अध्याय-७ ; श्लोक १८
×वही, अध्याय-७ ; श्लोक २२
&वही, अध्याय-७ ; श्लोक २०

nal belongs to a bygone age."*

इस प्रकार जब हम यह देखते हैं कि इस सिद्धांत के अनुसार दण्ड का प्रमुख उद्देश्य अपराधी को सुधारना ही है, तो इससे यह नतीजा निकाला जा सकता है कि किसी व्यक्ति को जिसकी दण्ड द्वारा सुधरने की संभावना नहीं है दण्ड के अतिरिक्त अन्य उपायों द्वारा भी सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए। आज इस बात को मान्यता दी गई है और अनेक देशों में ऐसे सुधारक-कारागृह बनाए गए हैं जहाँ अपराधियों को दण्डयातना न देकर उन्हें सन्मार्ग पर चलने की शिक्षा दी जाती है, और उन कारणों को खोज कर दूर करने का प्रयत्न किया जाता है जिनके कारण ही कोई व्यक्ति अपराध करता है। मृत्यु-दण्ड का निषेध भी इस सिद्धांत द्वारा होता है, क्योंकि इसमें मनुष्य का जीवन ही समाप्त हो जाता है और उसके सुधरने का अवसर ही नहीं रहता।

प्रतिकारक सिद्धांत—इस सिद्धांत के अनुसार दण्ड का उद्देश्य अपराधी के किए हुए कार्य को उसे वापिस कर देना है ताकि उसे यह ज्ञात हो जाय कि उसका कार्य न केवल समाज के लिए बुरा है बल्कि स्वयं उसके लिए भी अच्छा नहीं है। इस सिद्धांत को बदले की भावना से युक्त समझ कर ईसाई देशों ने उसका तिरस्कार किया। पर उनका ऐसा समझना केवल एक भूल थी। इसका कारण यह है कि ईसाई धर्म ने बदले को इस कारण बुरा माना क्योंकि उसमें एक व्यक्तिगत द्वेष की भावना मौजूद होती है। किन्तु चूँकि प्रतिकार न्यायालय द्वारा किया जाता है भोक्ता द्वारा नहीं, अतः व्यक्तिगत द्वेष की भावना का प्रश्न ही नहीं उठता। न्यायालय तो केवल एक दर्पण की भाँति अपराधी को उसके अपराध का फल चुका देता है। उस

*देखिए—Binney, Cecil,—Crime and Abnormality

उद्देश्य लोगों को किसी अपराध विशेष के करने से रोकना नहीं है। उसका मुख्य उद्देश्य उस व्यक्ति को दण्ड द्वारा सुधारना है जिसने कि कोई अपराध किया हो। समाज का हर व्यक्ति यह तो जानता ही है कि कौन कौन से कार्य अपराध कहलाते है, और उन्हें करने पर क्या दण्ड दिया जायगा। इस भावना से लोग स्वयं ही अपराध करना नहीं चाहते। उन्हें यह दिखाने की भी आवश्यकता नहीं कि अमुक अपराध के लिए अमुक व्यक्ति को क्या दण्ड दिया गया। अतः किसी कारणवश यदि कोई मनुष्य कोई अपराध कर डाले तो उसे केवल इसलिए दण्ड मिलना चाहिए ताकि वह भविष्य में फिर वह अपराध न करे। एक बार अपराध करने पर यदि किसी व्यक्ति को दण्डित न किया जाय तो वह उसकी पुनरावृत्ति करने से कभी न हिचकेगा। प्राचीन काल में यदि कोई व्यक्ति किसी मानसिक रोग की अवस्था में कोई अपराध कर डालता था तो भी उसे उसी प्रकार दंडित किया जाता था जैसे कि किसी सामान्य व्यक्ति को। किन्तु आज-कल उसे दण्ड न दिया जाकर उसका विधिवत् इलाज कराया जाता है ताकि वह उस व्याधि से मुक्त हो जाय और फिर भविष्य में वैसा अपराध पुनः न करे। इस प्रकार के किसी रोगी को जो कि अपने रोग के ही कारण कोई अपराध करता है, यदि दण्डित करके छोड़ दिया जाय और उसे उसके रोग से मुक्त न किया जाय तो यह निश्चय है कि वह मनुष्य पुनः उस अपराध को करेगा, क्योंकि अपराध करने का कारण उस मनुष्य में अभी मौजूद है जो उसे ऐसा करने को बाध्य करता है। सेसिल बिने (Cecil Binney) ने अपनी एक पुस्तक में कहा है ; "Now punishment implies guilt and guilt implies mental capacity, for whatever the evil effects of his act no rational system of law will punish as guilty a man bereft of understanding. Such a person is no more a fitting subject for punishment than is an inanimate object, and to treat him as a cr-

nal belongs to a bygone age."*

इस प्रकार जब हम यह देखते हैं कि इस सिद्धांत के अनुसार दण्ड का प्रमुख उद्देश्य अपराधी को सुधारना ही है, तो इससे यह नतीजा निकाला जा सकता है कि किसी व्यक्ति को जिसकी दण्ड द्वारा सुधरने की संभावना नहीं है दण्ड के अतिरिक्त अन्य उपायों द्वारा भी सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए। आज इस बात को मान्यता दी गई है और अनेक देशों में ऐसे सुधारक-कारागृह बनाए गए हैं जहाँ अपराधियों को दण्डयातना न देकर उन्हें सन्मार्ग पर चलने की शिक्षा दी जाती है, और उन कारणों को खोज कर दूर करने का प्रयत्न किया जाता है जिनके कारण ही कोई व्यक्ति अपराध करता है। मृत्यु-दण्ड का निषेध भी इस सिद्धांत द्वारा होता है, क्योंकि इसमें मनुष्य का जीवन ही समाप्त हो जाता है और उसके सुधरने का अवसर ही नहीं रहता।

प्रतिकारक सिद्धांत—इस सिद्धांत के अनुसार दण्ड का उद्देश्य अपराधी के किए हुए कार्य को उसे वापिस कर देना है ताकि उसे यह ज्ञात हो जाय कि उसका कार्य न केवल समाज के लिए बुरा है बल्कि स्वयं उसके लिए भी अच्छा नहीं है। इस सिद्धांत को बदले की भावना से युक्त समझ कर ईसाई देशों ने उसका तिरस्कार किया। पर उनका ऐसा समझना केवल एक भूल थी। इसका कारण यह है कि ईसाई धर्म ने बदले को इस कारण बुरा माना क्योंकि उसमें एक व्यक्तिगत द्वेष की भावना मौजूद होती है। किन्तु चूँकि प्रतिकार न्यायालय द्वारा किया जाता है भोक्ता द्वारा नहीं, अतः व्यक्तिगत द्वेष की भावना का प्रश्न ही नहीं उठता। न्यायालय तो केवल एक यंत्र की भाँति अपराधी को उसके अपराध का फल चुका देता है। उदा-

*देखिए—Binney, Cecil.—Crime and Abnormality पृष्ठ—१

हरण के लिए यदि कोई व्यक्ति अग्नि को छू ले तो उसे तुरंत अपने कार्य के फलस्वरूप दण्ड प्राप्त हो जायेगा, अर्थात् उसका हाथ जल जायगा। यहाँ यह कहना कि अग्नि ने उस व्यक्ति को उसके कार्य के लिए दण्ड दिया उचित न होगा। हिंदू धर्म में कर्म-सिद्धांत इसी बात को मानता है।

धर्मों में दण्ड विधान

ऊपर जिस दण्ड-विधान की बात कही गई है उसकी व्यवस्था समाज में राजा अथवा किसी न्यायालय द्वारा की जाती है। परन्तु इसके साथ साथ संसार के अनेक धर्मों ने भी कर्म के अनुसार दण्ड की व्यवस्था की है। यदि मनुष्य अच्छा कार्य करेगा तो उसे अच्छा फल प्राप्त होगा, और यदि वह बुरा कर्म करेगा तो उसे उसका दण्ड भोगना पड़ेगा। इन बुरे कार्यों को धर्मों ने पाप की संज्ञा दी है।

वैसे तो लगभग सभी धर्म यह स्वीकार करते हैं कि दण्ड देने का अधिकार ईश्वर को ही है और वही अच्छे और बुरे कार्यों का निर्णय भी करता है। किन्तु देखा यह गया है कि लोग इस पर अधिक ध्यान नहीं देते कि अंत में उन्हें कर्मों का क्या फल भोगना पड़ेगा अतएव वे मनमाना कर्म करने से नहीं चूकते। इस प्रकार समाज में गड़बड़ी पैदा होने का बहुत भय रहता है। इसे रोकने के लिए अनेक संस्थागत-धर्मों ने दण्ड देने का कार्य समय समय पर अपने हाथों में लिया है। योरप में मध्य युग में जब ईसाई चर्च का प्रभुत्व बढ़ा तो उसके अनेक न्यायालय भी बन गए जिनमें राजाओं तक के दण्ड की व्यवस्था की गई थी। इसके साथ साथ ईसाई धर्म यह स्पष्ट रूप से कहता है कि 'जैसा बोओगे वैसा पाओगे (As you sow so will you reap), उसके अनुसार बुरे कर्म कभी क्षमा नहीं किए जाते। इस्लाम के अनुसार प्रलय (The Day of Judgment) के दिन सारी आत्माएँ ईश्वर के सम्मुख उपस्थित की जाएँगी और उन्हें अपने कर्मों के लिए

जवाब देना होगा, इसके पश्चात् उनके अनुसार ईश्वर फैसला करेगा और सबको उचित दण्ड भी मिलेगा। इसी प्रकार हिंदू धर्म भी कर्म के अनुसार फल की प्राप्ति में विश्वास करता है। तुलसीदास ने यह स्पष्ट कहा है; कर्म प्रधान विश्व रचि राखा, जो जस करइ सो तस फल चाखा। अपने कर्मों का फल मनुष्य इस जन्म में भी भोगता है और उसके पश्चात् आगे के जन्मों में भी उन्हीं के अनुसार उसकी गति होती है। जीवन से छुटकारा पाने से ही मनुष्य को अपने कर्मों से छुटकारा पाना संभव नहीं, उसके कर्म ही उसके अन्य भोग-योनियों में जन्म पाने का कारण होते हैं। इस प्रकार कर्मों की—चाहे वे अच्छे हों या बुरे—अत्यंत निवृत्ति ही उसके मोक्ष का कारण होती है।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि ईश्वरीय नियम भी प्राणियों को उनके बुरे कर्मों के अनुसार दण्ड देता है। अतएव मनुष्य के लिए यह आवश्यक है कि वह धर्म के अनुसार आचरण करे। धर्म में स्थित रहने वालों के लिए सांसारिक न्याय कोई अर्थ नहीं रखता।

अध्याय—८

सद्‌गुण

(Virtues)

सद्‌गुण का सामान्य अर्थ है अच्छा गुण, अर्थात् ऐसा गुण जिसे मनुष्य को धारण करना चाहिए। इस 'अच्छा' शब्द के लिए अँग्रेज़ी भाषा में 'Good' शब्द का प्रयोग होता है। हम इसके लिए यहाँ 'श्रेय' शब्द का प्रयोग करेंगे। 'श्रेय' शब्द से मिलता-जुलता एक और शब्द 'उचित' (Right) है। श्रेय शब्द का क्या अर्थ है तथा उचित से यह किस प्रकार भिन्न है, यह समझ लेना यहाँ आवश्यक होगा। इसे समझ लेने के पश्चात् सद्‌गुण क्या है यह समझने में कठिनाई न होगी।

उचित तथा श्रेयस्कर (Right and Good)—मनुष्य जितने भी कार्य करता है उनका नैतिक दृष्टि से मूल्यांकन (Moral

Valuation) किया जाता है। मनुष्य के सारे कार्य समाज में संपन्न होते हैं और उनका निश्चित प्रभाव व्यक्तियों पर तथा सारे समाज की गतिविधि पर पड़ता है, अतः उनका मूल्यांकन एक सामाजिक महत्व रखता है। मनुष्य के कार्यों का मूल्यांकन किस आधार पर किया जाय, इस संबंध में दो प्रधान विचारधाराएँ मौजूद हैं। हेराक्लाइटस से प्रारंभ होकर स्टोइक दार्शनिकों से होती हुई जो विचारधारा कांट तक आती है उसके अनुसार नैतिकता का सर्वोच्च प्रमाण (Standard) कोई नियम अथवा आज्ञापक (Imperative) ही हो सकता है जो यह बताता है कि कौन-कौन से कार्य उचित हैं। जो कार्य उन नियमों अथवा आज्ञापकों के अनुसार नहीं होते वे अनुचित कार्य हैं जिन्हें अनैतिक कहा जायगा। इसके साथ-साथ एक दूसरी विचारधारा भी है जो डिमोक्राइटस से प्रारंभ होकर एपीक्यूरियन दार्शनिकों से होती हुई बेंथम तक आती है। इस विचारधारा के अनुसार नैतिक कार्य वे हैं जिनमें अंत में आनंद (Happiness) की प्राप्ति होती है। यही आनंद नैतिकता का सर्वोच्च प्रमाण है।

यदि इन सिद्धांतों पर गंभीरता से विचार किया जाय तो पता चलेगा कि ये दोनों धारणाएँ एकांगी हैं। मानव के सारे व्यापारों का केवल किसी एक प्रमाण से मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। हमारा जीवन आनंद की भी अपेक्षा रखता है तथा साथ ही साथ निर्देशन के लिए उसे नियमों की भी आवश्यकता होती है। ऐसे अनेक अवसर आते रहते हैं जब कि मनुष्य किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है और वह कर्तव्याकर्तव्य के लिए धर्म, रीति रिवाज तथा कानून इत्यादि से सहायता लेने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि ये दोनों धारणाएँ महत्वपूर्ण हैं। किंतु यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि इन दोनों धारणाओं के क्षेत्र अलग-अलग हैं। हमारे कुछ कार्य ऐसे होते हैं जो नियमों के अनुसार ही संपादित

किए जाते हैं। उनका प्रमुख उद्देश्य मनुष्य को आनंद की प्राप्ति कराना नहीं होता। वे तो केवल समाज में व्यवस्था कायम रखने के हेतु किए जाते हैं। उदाहरण के लिए सड़क पर बाईं ओर चलना, चोरी न करना, किसी को धोखा न देना इत्यादि। इन कार्यों को नकारात्मक नैतिकता (Negative Morality) भी कहा जाता है। इनके न करने से समाज को हानि पहुँचती है, किन्तु उनके करने से उसकी व्यवस्था बनी रहने के अतिरिक्त और कोई भावात्मक लाभ (Positive Good) नहीं होता। ये कार्य कर्तव्य कहलाते हैं और इनका करना एक उचित बात होती है। इसके साथ साथ वे कार्य जो आनंद की प्राप्ति के उद्देश्य से किए जाते हैं उनसे समाज तथा व्यक्तियों को भावात्मक लाभ होता है, और वे ही उन्हें उन्नत बनाने में सहायक होते हैं। ये कार्य श्रेयस्कर कार्य (Good Acts) कहलाते हैं। चूँकि यह हमारा प्रमुख विषय नहीं है अतः यहाँ इस संबंध में इतना ही जान लेना पर्याप्त होगा।

सद्गुण की परिभाषा—उचित और श्रेयस्कर का भेद भली भाँति समझ लेने पर सद्गुण की परिभाषा समझना कठिन न होगा। म्योरहेड (Muirhead) ने सद्गुण की परिभाषा करते हुए कहा है कि; सद्गुण चरित्र का वह गुण है जिसके द्वारा समष्टि (Whole) के हित की दृष्टि से कार्य किया जाता है, इसमें समष्टि के हित अथवा श्रेय (Good) की भावना की प्रधानता है। उचित कार्य का यहाँ अधिक महत्व नहीं है। एक प्रकार से उचित का समावेश श्रेय के अंतर्गत हो जाता है। यहाँ एक और बात समझ लेनी चाहिए, और वह यह कि ये समस्त श्रेय स्वयं न तो अच्छे हैं और न बुरे।

देखिए—Muirhead, T. H. The Elements of Ethics. पृष्ठ २०५।

इनका सामाजिक परिस्थितियों में प्रयोग ही उन्हें सद्गुण की संज्ञा देता है। उदाहरण के लिए क्षमा को ही ले लीजिए। यदि कोई व्यक्ति इस गुण को धारण करता है किन्तु आवश्यकतानुसार उसका उचित उपयोग नहीं करता तो कदापि उसे सद्गुण न कहा जायगा। अरस्तू (Aristotle) का यह मत है कि कोई भी गुण जो कि कार्यरूप में अपने को प्रकट नहीं करता केवल एक संभाव्य वस्तु (Potentiality) है, उसका कोई महत्व नहीं। अतः सद्गुण के लिए यह आवश्यक है कि उसका प्रयोग ऐसे अवसर पर किया जाय जिससे कि सामाजिक प्रगति में सहायता प्राप्त हो।

व्यक्तिगत अथवा नैतिक सद्गुण—सामाजिक प्रगति में सहायता प्राप्त होने का क्या अर्थ है? बहुत से सद्गुण ऐसे हैं जिनसे कि मनुष्य अपना व्यक्तिगत लाभ प्राप्त करता है। उदाहरण के लिए संतोष को ही ले लीजिए, यदि कोई व्यक्ति संतोषी है तो किसी वस्तु के अभाव में वह दुःखी अथवा व्यग्र न होगा, पर वह व्यक्ति जो संतोषी नहीं है उस वस्तु के अभाव में असह्य वेदना का अनुभव करेगा। यहाँ हम देखते हैं कि इस सद्गुण का सीधा प्रभाव मनुष्य के अपने जीवन पर ही पड़ता है, समाज पर नहीं। ऐसी अवस्था में क्या यह कहना उचित होगा कि संतोष एक सद्गुण नहीं है? किन्तु ऐसा मानना भारी भूल होगी। यह तो ठीक है कि इस प्रकार के अन्य सभी सद्गुणों का सीधा प्रभाव मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन पर ही पड़ता है, पर विचार करने से यह ज्ञात होता है कि उसका प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से समाज की प्रगति पर भी पड़ता है। यदि किसी समाज में सारे व्यक्ति असंतोषी हो जायँ तो यह निश्चित है कि उसके जीवन में बड़ी गड़बड़ी आ जायगी, और इसके विपरीत यदि उसके सारे व्यक्ति संतोषी हो जायँ तो वह समाज निश्चित रूप से एक उन्नत समाज कहलाएगा। अतः इस प्रकार के सभी सद्गुण अप्रत्यक्ष रूप

से समाज की प्रगति में योग देते हैं। इन सद्गुणों को व्यक्तिगत अथवा नैतिक सद्गुण (Individual or Moral Virtues) कहा जाता है।

सामाजिक सद्गुण—इनके साथ साथ कुछ सद्गुण ऐसे भी हैं जिनका प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से समाज की प्रगति पर पड़ता है। उदाहरण के लिए क्षमा, न्याय (Justice) तथा परोपकार (Benevolence) इत्यादि। इनका उतना अधिक व्यापक प्रभाव मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन पर नहीं पड़ता जितना कि समाज पर। परोपकारी व्यक्ति यदि कोई परोपकार का कार्य करता है तो उसका उसके स्वयं के जीवन पर बहुत अधिक प्रभाव नहीं पड़ेगा, क्योंकि वह तो स्वयं परोपकारी है ही, परन्तु उसके परोपकार से समाज के अन्य व्यक्तियों को निश्चित रूप से लाभ होगा। यहाँ यह कहा जा सकता है कि परोपकार का कार्य किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा भी किया जा सकता है जो कि स्वयं परोपकारी नहीं है, और ऐसी दशा में उसके इस कार्य का उसके जीवन पर काफ़ी प्रभाव पड़ सकता है। अतः इससे यह निष्कर्ष निकल सकता है कि इस प्रकार कथित किए जाने वाले सामाजिक सद्गुण वस्तुतः व्यक्तिगत अथवा नैतिक सद्गुण हैं। पर यदि अरस्तू की सद्गुण संबंधी परिभाषा पर विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि ये सामाजिक सद्गुण व्यक्तिगत अथवा नैतिक सद्गुण नहीं हो सकते। उनके अनुसार सद्गुण किन्हीं कार्यों को करने के लिए एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है (Virtue is an habitual disposition to perform certain actions) इस परिभाषा में हम यह देखते हैं कि स्वभाव (Habit) पर गौरव दिया गया है। वह गुण जो एक व्यक्ति के स्वभाव का अंग नहीं बन गया है सद्गुण कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। इस प्रकार यह निश्चित हो जाता है कि कुछ सद्गुण ऐसे भी हैं जिन्हें सामाजिक सद्गुण कहा जा सकता है।

इनका सामाजिक परिस्थितियों में प्रयोग ही उन्हें सद्‌गुण की संज्ञा देता है। उदाहरण के लिए क्षमा को ही ले लीजिए। यदि कोई व्यक्ति इस गुण को धारण करता है किन्तु आवश्यकतानुसार उसका उचित उपयोग नहीं करता तो कदापि उसे सद्‌गुण न कहा जायगा। अरस्तू (Aristotle) का यह मत है कि कोई भी गुण जो कि कार्यरूप में अपने को प्रकट नहीं करता केवल एक संभाव्य वस्तु (Potentiality) है, उसका कोई महत्व नहीं। अतः सद्‌गुण के लिए यह आवश्यक है कि उसका प्रयोग ऐसे अवसर पर किया जाय जिसमें कि सामाजिक प्रगति में सहायता प्राप्त हो।

व्यक्तिगत अथवा नैतिक सद्‌गुण—सामाजिक प्रगति में सहायता प्राप्त होने का क्या अर्थ है? बहुत से सद्‌गुण ऐसे हैं जिनसे कि मनुष्य अपना व्यक्तिगत लाभ प्राप्त करता है। उदाहरण के लिए संतोष को ही ले लीजिए, यदि कोई व्यक्ति संतोषी है तो किसी वस्तु के अभाव में वह दुःखी अथवा व्यग्र न होगा, पर वह व्यक्ति जो संतोषी नहीं है उस वस्तु के अभाव में असह्य वेदना का अनुभव करेगा। यहाँ हम देखते हैं कि इस सद्‌गुण का सीधा प्रभाव मनुष्य के अपने जीवन पर ही पड़ता है, समाज पर नहीं। ऐसी अवस्था में क्या यह कहना उचित होगा कि संतोष एक सद्‌गुण नहीं है? किन्तु ऐसा मानना भारी भूल होगी। यह तो ठीक है कि इस प्रकार के अन्य सभी सद्‌गुणों का सीधा प्रभाव मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन पर ही पड़ता है, पर विचार करने से यह ज्ञात होता है कि उसका प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से समाज की प्रगति पर भी पड़ता है। यदि किसी समाज में सारे व्यक्ति असंतोषी हो जायँ तो यह निश्चित है कि उसके जीवन में बड़ी गड़बड़ी आ जायगी, और इसके विपरीत यदि उसके सारे व्यक्ति संतोषी हो जायँ तो वह समाज निश्चित रूप से एक उन्नत समाज कहलाएगा। अतः इस प्रकार के सभी सद्‌गुण अप्रत्यक्ष रूप

से समाज की प्रगति में योग देते हैं। इन सद्‌गुणों को व्यक्तिगत अथवा नैतिक सद्‌गुण (Individual or Moral Virtues) कहा जाता है।

सामाजिक सद्‌गुण—इनके साथ साथ कुछ सद्‌गुण ऐसे भी हैं जिनका प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से समाज की प्रगति पर पड़ता है। उदाहरण के लिए क्षमा, न्याय (Justice) तथा परोपकार (Benevolence) इत्यादि। इनका उतना अधिक व्यापक प्रभाव मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन पर नहीं पड़ता जितना कि समाज पर। परोपकारी व्यक्ति यदि कोई परोपकार का कार्य करता है तो उसका उसके स्वयं के जीवन पर बहुत अधिक प्रभाव नहीं पड़ेगा, क्योंकि वह तो स्वयं परोपकारी है ही, परन्तु उसके परोपकार से समाज के अन्य व्यक्तियों को निश्चित रूप से लाभ होगा। यहाँ यह कहा जा सकता है कि परोपकार का कार्य किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा भी किया जा सकता है जो कि स्वयं परोपकारी नहीं है, और ऐसी दशा में उसके इस कार्य का उसके जीवन पर काफ़ी प्रभाव पड़ सकता है। अतः इससे यह निष्कर्ष निकल सकता है कि इस प्रकार कथित किए जाने वाले सामाजिक सद्‌गुण वस्तुतः व्यक्तिगत अथवा नैतिक सद्‌गुण हैं। पर यदि अरस्तू की सद्‌गुण संबंधी परिभाषा पर विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि ये सामाजिक सद्‌गुण व्यक्तिगत अथवा नैतिक सद्‌गुण नहीं हो सकते। उनके अनुसार—सद्‌गुण किन्हीं कार्यों को करने के लिए एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है (Virtue is an habitual disposition to perform certain actions) इस परिभाषा में हम यह देखते हैं कि स्वभाव (Habit) पर गौरव दिया गया है। वह गुण जो एक व्यक्ति के स्वभाव का अंग नहीं बन गया है सद्‌गुण कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। इस प्रकार यह निश्चित हो जाता है कि कुछ सद्‌गुण ऐसे भी हैं जिन्हें सामाजिक-सद्‌गुण कहा जा सकता है।

ऊपर के विवरण से यह न समझ लेना चाहिए कि ये दोनों प्रकार के सद्गुण एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं। यह वर्गीकरण तो केवल अध्ययन की सुविधा के लिए किया गया है। व्यक्तिगत सद्गुणों का समाज पर प्रभाव पड़ता है और सामाजिक सद्गुणों का व्यक्तिगत जीवन पर अतः इन्हें एक दूसरे से बिल्कुल पृथक् करना भूल होगी।

सद्गुणों का वर्गीकरण

अभी हम उपर यह देख चुके हैं कि सद्गुणों का व्यक्तिगत और सामाजिक दृष्टि से वर्गीकरण नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार और किसी दृष्टिकोण से भी उनका वर्गीकरण करना उचित नहीं। किन्तु फिर भी समय समय पर जो प्रमुख वर्गीकरण किए गए हैं उनका यहाँ उल्लेख कर देना अनावश्यक न होगा।

अरस्तू का वर्गीकरण—अरस्तू के अनुसार सद्गुणों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। (१) बौद्धिक सद्गुण (Intellectual Virtues) तथा (२) नैतिक सद्गुण (Moral Virtues) बौद्धिक सद्गुणों का उदाहरण दूरदर्शिता (Prudence), निर्णय (Discretion) एवं विवेक (Discrimination) इत्यादि हैं। इनमें बुद्धि की प्रधानता रहती है। नैतिक सद्गुणों का उदाहरण दान (Charity), न्याय (Justice), साहस (Courage) तथा उदारता (Generosity) इत्यादि हैं। इनमें बुद्धि की अपेक्षा आचरण की प्रधानता है। किन्तु यहाँ भी हम यह देखते हैं कि इन दोनों प्रकार के सद्गुणों को एक दूसरे से बिल्कुल पृथक् नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए साहस एक नैतिक सद्गुण है, किन्तु ऐसा साहस जिसमें विवेक और निर्णय का अभाव है सद्गुण कहलाने का अधिकारी कदापि नहीं हो सकता। इसी प्रकार न्याय और दान

नैतिक सद्‌गुण होते हुए भी विचार की अपेक्षा रखते हैं। विवेक एक बौद्धिक सद्‌गुण है किन्तु उसका साहस से बड़ा संबंध है। एक ऐसा व्यक्ति जो साहसी नहीं है विवेक करने में उतना सफल न होगा जितना कि एक साहसी व्यक्ति। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि अरस्तू का यह वर्गीकरण भी उसी प्रकार उचित नहीं है जैसा कि हम अभी नैतिक और सामाजिक वर्गीकरण के संबंध में देख चुके हैं।

प्लेटो का वर्गीकरण—प्लेटो ने सद्‌गुणों का वर्गीकरण हमारे स्वभाव से संबंधित कई पहलुओं के आधार पर किया है। यह वर्गीकरण ऊपर के वर्गीकरणों के समान सद्‌गुणों के विभाज्य लक्षणों (Separable Traits) के आधार पर नहीं किया गया।

प्लेटो ने सद्‌गुणों के तीन प्रमुख वर्ग माने हैं। ये हैं: (१) संयम (Temperence), (२) साहस (Courage) तथा प्रज्ञा (Wisdom) इसके साथ साथ न्याय को उन्होंने इन तीनों की एकता स्थापित करने वाला सूत्र माना है। इस वर्गीकरण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसका आधार मानव प्रकृति के तीन प्रमुख तत्व अनुभूति (Feeling), इच्छा (Will) तथा बुद्धि (Intelligence) हैं। इस वर्गीकरण की दूसरी विशेषता इन सद्‌गुणों की एकता है। मनुष्य के प्रत्येक कार्य में इन तीनों का व्यक्तीकरण होता है। इसके अतिरिक्त इसकी तीसरी विशेषता यह है कि ये तीनों सद्‌गुण प्रधानतया "समाज के गुण" हैं।* इन्हें प्रधान सद्‌गुण (Cardinal Virtues) भी कहा गया है।

---

*देखिए—Bosanquet's Companion to Plato's Republic.

इस अध्याय में हमें विशेष रूप से न्याय तथा उपकार का उल्लेख करना है, अतः प्लेटो एवं अरस्तू द्वारा वर्गीकृत सद्गुणों पर यहाँ विस्तार से विचार नहीं किया जायगा।

न्याय

न्याय की परिभाषा—न्याय और अन्याय उचित और अनुचित शब्दों से मिलते जुलते शब्द हैं। साधारणतया न्याय और अन्याय शब्दों का अर्थ उचित और अनुचित ही समझा जाता है, किन्तु इनमें थोड़ा भेद है जिसे समझ लेने पर न्याय के स्वरूप को समझना सरल हो जायगा। उचित और अनुचित कार्यों का सीधा प्रभाव उन कार्यों के कर्त्ता पर पड़ता है, परन्तु न्याय अथवा अन्याय का सीधा प्रभाव उस व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह पर पड़ता है जिसके प्रति कोई व्यवहार किया जाय। यदि कोई व्यक्ति बीमार पड़ने पर औषधि का प्रयोग न करे तो निश्चय ही यह अनुचित होगा, और उसका सीधा प्रभाव उसके स्वास्थ्य पर पड़ेगा। यह बात दूसरी कि उसकी हानि से समाज पर प्रभाव पड़ेगा क्योंकि वह समाज का एक अंग है। परन्तु यदि वह समाज से पृथक किसी अन्य स्थान में रहता हो तो उसे स्वयं हानि उठानी पड़ेगी। परन्तु यदि कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति से ऋण लेकर न चुकाए तो उससे उसका सीधा प्रभाव उस व्यक्ति पर पड़ेगा जिससे ऋण लिया गया था। यहाँ हम यह देखते हैं कि उसके साथ अन्याय हुआ। यदि उसका धन यथासमय लौटा दिया जाता तो न्याय होता। यहाँ एक और बात महत्व की है। वह यह कि जिस व्यक्ति से ऋण लिया गया था उसका उस रुपए को लौटा लेने का अधिकार था, किन्तु ऋण लेने वाले ने उस व्यक्ति के इस अधिकार का हनन किया और स्वयं ऋण

अदा कर देने के अपने कर्तव्य का निर्वाह नहीं किया। इस प्रकार की ऐसी अनेक परिस्थितियाँ होती हैं जहाँ मनुष्य अपने कर्तव्य को भुला कर उससे बँधे हुए दूसरे व्यक्ति के अधिकारों का हनन कर डालता है। यही अन्याय कहलाता है। इसके विपरीत मनुष्य दूसरों के अधिकारों के हित में जहाँ कहीं अपने कर्तव्य का पालन करता है, वहीं न्याय होता है।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि न्याय का समाज में बड़ा व्यापक स्थान है। पर साधारणतया लोगों की यह धारणा होती है कि न्याय करना राज्य अथवा न्यायालयों का ही कार्य है। ऐसा सोचना भारी भूल है। न्यायालय तो उन्हीं बातों का फ़ैसला करते हैं जिनका फ़ैसला करना समाज में व्यक्तियों के लिए सम्भव नहीं होता। न्याय अथवा अन्याय तो हमारे प्रतिदिन के व्यवहार की वस्तु होते हैं। राज्य वस्तुतः इस बात की व्यवस्था करता है कि साधारण सामाजिक जीवन में जिन व्यक्तियों के साथ अन्याय किया गया हो उन्हें वह उनका अधिकार दिला दे। इसके लिए उसे शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है। समाज में वे ही लोग अन्याय करते हैं जो कि दूसरों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होते हैं अतः उनसे न्याय लेने के लिए उनकी शक्ति से बड़ी शक्ति की आवश्यकता होती है। यह शक्ति राज्य को प्राप्त होती है जिसका प्रयोग ऐसी परिस्थितियों में लोगों से न्याय कराने के लिए किया जाता है। इस प्रकार राज्य एक ऐसा सामाजिक संगठन बनाने का प्रयत्न करता है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति को अपने अधिकार प्राप्त करने की स्वतंत्रता हो, उसके साथ न्याय हो। यहाँ जैसा कि अरस्तू ने कहा था इस समस्या के दो पहलू हो जाते हैं। एक तो यह कि समाज का वह कौन सा सर्वश्रेष्ठ संगठन है जिसे कि राज्य स्थापित कर सकता है? तथा दूसरा यह कि, परिवर्तनशील परिस्थितियों में उसे कैसे कायम रखा जाय? इसी से संबंधित एक

इस अध्याय में हमें विशेष रूप से न्याय तथा उपकार का उल्लेख करना है, अतः प्लेटो एवं अरस्तू द्वारा वर्गीकृत सद्गुणों पर यहाँ विस्तार से विचार नहीं किया जायगा।

न्याय

न्याय की परिभाषा—न्याय और अन्याय उचित और अनुचित शब्दों से मिलते जुलते शब्द हैं। साधारणतया न्याय और अन्याय शब्दों का अर्थ उचित और अनुचित ही समझा जाता है, किन्तु इनमें थोड़ा भेद है जिसे समझ लेने पर न्याय के स्वरूप को समझना सरल हो जायगा। उचित और अनुचित कार्यों का सीधा प्रभाव उन कार्यों के कर्त्ता पर पड़ता है, परन्तु न्याय अथवा अन्याय का सीधा प्रभाव उस व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह पर पड़ता है जिसके प्रति कोई व्यवहार किया जाय। यदि कोई व्यक्ति बीमार पड़ने पर औषधि का प्रयोग न करे तो निश्चय ही यह अनुचित होगा, और उसका सीधा प्रभाव उसके स्वास्थ्य पर पड़ेगा। यह बात दूसरी कि उसकी हानि से समाज पर प्रभाव पड़ेगा क्योंकि वह समाज का एक अंग है। परन्तु यदि वह समाज से प्रथक किसी अन्य स्थान में रहता हो तो उसे स्वयं हानि उठानी पड़ेगी। परन्तु यदि कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति से ऋण लेकर न चुकाए तो उससे उसका सीधा प्रभाव उस व्यक्ति पर पड़ेगा जिससे ऋण लिया गया था। यहाँ हम यह देखते हैं कि उसके साथ अन्याय हुआ। यदि उसका धन यथासमय लौटा दिया जाता तो न्याय होता। यहाँ एक और बात महत्व की है। वह यह कि जिस व्यक्ति से ऋण लिया गया था उसका उस रुपए को लौटा लेने का अधिकार था, किन्तु ऋण लेने वाले ने उस व्यक्ति के इस अधिकार का हनन किया और स्वयं ऋण

में सरलता हो। इसी प्रकार यदि व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार स्थान प्राप्त कर भी लें तो राज्य के लिए यह संभव नहीं है कि वह उन सबको अपने अपने कर्तव्यों का पालन करने के लिए प्रेरित कर ही सके। परन्तु वह यह अवश्य कर सकता है कि लोगों को सामान्य रूप से ऐसी शिक्षा दे जिससे वे अपने कर्तव्यों का पालन करने के लिए तैयार हो जायँ। पुनश्च राज्य के लिए यह भी संभव नहीं है कि वह समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्तव्यों को पूरा करने के लिए आवश्यक सहूलियतें और सामान प्रदान कर सके। किन्तु वह यह कर सकता है कि लोगों के लिए ऐसा सामान्य प्रबंध करे जिससे वे अपनी आवश्यकतानुसार आवश्यक अवसर तथा वस्तुएँ प्राप्त कर सकें। उदाहरण के लिए नागरिकों की जल की आवश्यकता की पूर्ति करना राज्य का काम है, किन्तु वह सभी नागरिकों के घरों में अलग अलग जल-कल नहीं लगवा सकता। साथ ही यदि जन स्थानों पर जल-कल लगवा दिए जायें तो नागरिकों को जल संबंधी आवश्यकता पूरी की जा सकती है।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि राज्य ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सकता है जिससे कि उसके नागरिक अधिक से अधिक अपने को योग्य बना सकें और अधिक से अधिक अपने कर्तव्यों का पालन करने में समर्थ हो सकें। इसमें सामान्य का भाव है विशेष का नहीं। यही विभाजक न्याय है।

सुधारक न्याय—यदि विभाजक न्याय की प्राप्ति पूर्णतया हो जाय तो भी ऐसी अनेक बातें उपस्थित हो सकती हैं जिनके कारण उसमें गड़बड़ी पैदा हो जाय। इसे रोकने का जो उचित उपाय है उसी को अरस्तू ने सुधारक न्याय कहा है। यह गड़बड़ी दुर्घटना द्वारा उत्पन्न हो सकती है, लोगों के आपस के समझौते द्वारा उत्पन्न हो

और पहलू देखने को मिलता है, और वह यह कि यदि एक बार इस संगठन में शिथिलता आ जाय तो उसकी पुनर्प्राप्ति कैसे की जाय ? अरस्तू के मतानुसार पहली समस्या का संबंध विभाजक न्याय (Distributive Justice) से है तथा अन्य दो का सुधारक न्याय (Corrective Justice) से। यहाँ हम इन दोनों पर थोड़ा विचार करेंगे।

विभाजक न्याय—राज्य का प्रमुख उद्देश्य एक ऐसे सामाजिक संगठन को स्थापित करना है जिसमें सबका अधिक से अधिक हित हो सके। अब प्रश्न यह होता है कि वह संगठन कैसा होगा ? इसके बहुत से उत्तर समय समय पर दिए गए हैं। हम यहाँ पर प्लेटो के उत्तर पर विचार करेंगे जो अन्य उत्तरों की अपेक्षा अधिक उचित जान पड़ता है। उनके अनुसार वह सामाजिक संगठन सर्वोत्तम है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को ऐसा स्थान प्राप्त हो जिसके लिए वह सबसे अधिक योग्य हो ताकि वह उस स्थान पर होते हुए अपने कर्तव्यों को पूरा कर सके। साथ ही उसे वह सहूलियतें और सामान भी प्राप्त हो सके जिनके द्वारा वह अपने कर्तव्यों का पालन करने में समर्थ हो। यदि हम इसे विभाजक-न्याय की धारणा का आधार मान लें तो इसमें कुछ बातों का समावेश आवश्यक होगा।

किसी भी आधुनिक राज्य द्वारा उन सारी बातों की पूर्ति संभव नहीं है जिनका कि उल्लेख प्लेटो की धारणा में किया गया है। सबसे पहले तो किसी राज्य के लिए यह संभव नहीं है कि वह प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुसार स्थान प्राप्त करा दे, किन्तु बहुत हद तक वह ऐसा प्रबंध अवश्य कर सकता है जिससे कि प्रत्येक व्यक्ति को यथासंभव अपनी योग्यता के अनुसार स्थान ग्रहण करने

यहाँ यह पूछा जा सकता है कि किसी व्यक्ति की क्षति के लिए यदि अपराधी को दण्ड दिया गया तो उससे भोक्ता की उस क्षति की पूर्ति कैसे होगी ? और यदि नहीं हुई तो उसके साथ न्याय कहाँ हुआ ? इसका उत्तर यही है कि राज्य का प्रयत्न तो यही होता है कि वह भोक्ता की क्षति की पूर्ति अपराधी द्वारा करा दे, किन्तु जब परिस्थिति ऐसी हो जाती है कि उस क्षति की पूर्ति उस रूप में हो ही नहीं सकती तो वह अपराधी से उसकी पूर्ति अन्य रूप में कराने का प्रयत्न करता है और जब यह भी संभव नहीं होता तो वह उसे दण्ड देता है। इससे भोक्ता को कुछ संतोष होता है और भविष्य में उस अपराध की पुनरावृत्ति होने का भय भी कम हो जाता है। इसी दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि राज्य ने न्याय किया।

परोपकार

सामाजिक सद्गुणों में परोपकार का स्थान न्याय के स्थान से भी ऊँचा है। उसकी व्यापकता का क्षेत्र भी न्याय की व्यापकता के क्षेत्र से अधिक विस्तृत है। न्याय का तो प्रत्येक व्यक्ति अधिकारी होता है, किन्तु परोपकार पाने का अधिकारी कोई भी अपने को घोषित नहीं कर सकता, और यदि करे भी तो वह उसे प्राप्त करने के लिए समाज पर वैसा दबाव नहीं डाल सकता जैसा कि न्याय प्राप्त करने के लिए। समाज में यदि कोई व्यक्ति किसी के साथ न्याय करता है तो उसमें उसकी कोई विशेषता नहीं है, क्योंकि वह अपना कर्तव्य करता है और उसे प्राप्त करने वाला व्यक्ति उसका अधिकारी है, परन्तु परोपकार करने वाला व्यक्ति यदि परोपकार न करे तो दूसरा व्यक्ति उसे प्राप्त करने के अपने अधिकार द्वारा उसे ऐसा करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता। अतः परोपकार का नैतिक महत्व

सकती है, अथवा एक व्यक्ति या एक व्यक्ति-समूह के दूसरों के कार्यों में हस्तक्षेप करने से उत्पन्न हो सकती है।

दुर्घटना से होने वाली हानि को रोकने के लिए सरकार लोगों के बीमे का प्रबंध कर सकती है, ताकि किसी दुर्घटना से होने वाली क्षति की कुछ पूर्ति संभव हो सके। साथ ही दुर्घटनाएँ कम हों इसके लिए भी कुछ प्रबंध करना उसके लिए आवश्यक है। ऐसी गड़बड़ी जो कि लोग संगठित होकर उत्पन्न करते हैं अंतर्राष्ट्रीय-संबंधों पर निर्भर करती है क्योंकि वे व्यक्ति जिन्होंने अपने को विशेष उद्देश्य से संगठित किया है कई राज्यों अथवा देशों के हो सकते हैं। यहाँ इसका विस्तृत विवरण देना संभव नहीं है। तीसरे प्रकार की गड़बड़ी लोगों के दूसरों के कार्यों में सीधा हस्तक्षेप करने से उत्पन्न होती है। राज्य का प्रमुख कार्य इन्हीं को रोकना होता है। ऊपर की अन्य दो बातों पर राज्य का उतना अधिकार नहीं होता जितना कि इस पर। इसका कारण यह है कि दुर्घटनाएँ या तो मनुष्य की भूल से होती हैं और या प्राकृतिक उपद्रवों द्वारा। राज्य इन दोनों पर कोई नियंत्रण नहीं रख सकता। इसी प्रकार अंतर्राष्ट्रीय मामलों पर नियंत्रण प्राप्त करना भी किसी एक राज्य के वश की बात नहीं हो सकती। किन्तु व्यक्तिगत हस्तक्षेप द्वारा उत्पन्न होने वाली घटनाओं का नियंत्रण वह अधिक सरलता से कर सकता है। इस लिए राज्य का प्रमुख कार्य यदि इसी प्रकार की गड़बड़ों का निवारण करना समझा जाता है तो कुछ अनुचित नहीं है। इस प्रकार की गड़बड़ें आपस के समझौतों को तोड़ने, किसी को शारीरिक अथवा मानसिक आघात पहुँचाने अथवा किसी के धन एवं संपत्ति का हरण करने से उत्पन्न हो सकती है। इसे रोकने के लिए सरकार अनेक नियम बनाती है और अपराधियों को उनके अपराधों के लिए दण्ड भी देती है। इस प्रकार जिन व्यक्तियों को हानि होती है उन्हें न्याय मिलता है।

यहाँ यह पूछा जा सकता है कि किसी व्यक्ति की क्षति के लिए यदि अपराधी को दण्ड दिया गया तो उससे भोक्ता की उस क्षति की पूर्ति कैसे होगी ? और यदि नहीं हुई तो उसके साथ न्याय कहाँ हुआ ? इसका उत्तर यही है कि राज्य का प्रयत्न तो यही होता है कि वह भोक्ता की क्षति की पूर्ति अपराधी द्वारा करा दे, किन्तु जब परिस्थिति ऐसी हो जाती है कि उस क्षति की पूर्ति उस रूप में हो ही नहीं सकती तो वह अपराधी से उसकी पूर्ति अन्य रूप में कराने का प्रयत्न करता है और जब यह भी संभव नहीं होता तो वह उसे दण्ड देता है। इससे भोक्ता को कुछ संतोष होता है और भविष्य में उस अपराध की पुनरावृत्ति होने का भय भी कम हो जाता है। इसी दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि राज्य ने न्याय किया।

परोपकार

सामाजिक सद्गुणों में परोपकार का स्थान न्याय के स्थान से भी ऊँचा है। उसकी व्यापकता का क्षेत्र भी न्याय की व्यापकता के क्षेत्र से अधिक विस्तृत है। न्याय का तो प्रत्येक व्यक्ति अधिकारी होता है, किन्तु परोपकार पाने का अधिकारी कोई भी अपने को घोषित नहीं कर सकता, और यदि करे भी तो वह उसे प्राप्त करने के लिए समाज पर वैसा दबाव नहीं डाल सकता जैसा कि न्याय प्राप्त करने के लिए। समाज में यदि कोई व्यक्ति किसी के साथ न्याय करता है तो उसमें उसकी कोई विशेषता नहीं है, क्योंकि वह अपना कर्तव्य करता है और उसे प्राप्त करने वाला व्यक्ति उसका अधिकारी है, परन्तु परोपकार करने वाला व्यक्ति यदि परोपकार न करे तो दूसरा व्यक्ति उसे प्राप्त करने के अपने अधिकार द्वारा उसे ऐसा करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता। अतः परोपकार का नैतिक महत्व

भी न्याय के महत्व से अधिक है। और संभवतः इसी लिए भारतीय आदर्श यह कहता है:

> अष्टादश पुराणानाम् व्यासस्य वचनद्वयं।
> परोपकार पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

अर्थात् अठारह पुराणों द्वारा दी गई धर्म तथा नैतिकता की शिक्षा का महत्व व्यास के इस वचन से कि परोपकार से पुण्य होता है और दूसरे को कष्ट देने से पाप, अधिक नहीं है।

वैसे भी विचार करने से यह ज्ञात होता है कि समाज का कार्य परोपकार के बिना ठीक से नहीं चल सकता। समाज में ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जो अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समाज को कुछ दे नहीं सकते। उनके लिए यदि समाज के दूसरे लोग उपकार न करें तो उनका जीवन कठिन हो जाये। यहाँ यह कहा जा सकता है कि समाज में ऐसे लोग तो बहुत थोड़े ही होते हैं जो दूसरों का कुछ भी हित करने में असमर्थ हों। अतः उनके साथ उपकार करने के अवसर भी कम ही होंगे और थोड़े ही लोगों को प्राप्त होंगे। किन्तु यह धारणा भ्रमपूर्ण है। कारण यह कि परोपकार का अर्थ केवल इतना ही नहीं है। उसका अर्थ यह भी है कि यदि कोई किसी कारण से अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए समाज को उसके बदले में कम भी दे तो भी समाज द्वारा उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति उससे उसका बदला लेने की भावना के बिना कर दी जाय। इस प्रकार हम पाते हैं कि उसका क्षेत्र बहुत व्यापक हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति कभी न कभी ऐसी अवस्था को प्राप्त हो जाता है जब कि उसे दूसरों के उपकार की आवश्यकता होती है।

हर्बर्ट स्पेंसर ने दो प्रकार के उपकारों का उल्लेख किया है।

ये हैं : स्त्रियों के प्रति परोपकार, माता-पिता का बच्चों के प्रति परोपकार, माता पिताओं के प्रति संतान का परोपकार, रोगियों तथा दीन व्यक्तियों की सेवा, त्रस्त व्यक्तियों की रक्षा, संबंधियों तथा मित्रों की आर्थिक सहायता, सामाजिक परोपकार, राजनीतिक परोपकार तथा सामान्य परोपकार।*

अध्याय—९

प्रजातंत्र और सामाजिक प्रगति

(Democracy and Social Progress)

प्रजातंत्र की व्याख्या

साधारणतया प्रजातंत्र के संबंध में लोगों की यह धारणा है कि यह एक ऐसी राजकीय व्यवस्था है जिसमें प्रजा द्वारा निर्वाचित लोग राज्य का काम चलाते हैं। कुछ ऐसी व्यवस्थाएँ भी हैं जिनमें प्रजा का कोई हाथ नहीं होता तथा राजकीय मामलों में उनकी राय कोई महत्व नहीं रखती। केवल यही नहीं कि उनकी राय कोई महत्व नहीं रखती वरन उन्हें अपनी राय रखने का कोई अधिकार ही नहीं होता। इसके विपरीत प्रजातंत्री व्यवस्था में उनकी अपनी राय भी होती है। प्रजातंत्र के संबंध में यह धारणा एकांगी है, अपूर्ण है। इससे उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। प्रजातंत्र को समझने

वस्तुओं में से चुन लेने में कोई कठिनाई नहीं होती। रुचि के अभाव में जब हम किसी वस्तु को चुनने का प्रयत्न करते हैं तो यह कहा जा सकता है कि हमें कम से कम चुनने की स्वतंत्रता तो है ही। किन्तु विचार करने से यह ज्ञात होता है कि उस स्वतंत्रता का कोई महत्व नहीं, क्योंकि उससे चुनने वाले को कोई लाभ नहीं होता। यदि उसे कोई अन्य व्यक्ति उन वस्तुओं में से एक वस्तु स्वयं चुन कर दे देता तो बात वही होती जो उसके स्वयं के चुनने से हुई। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि स्वतंत्रतापूर्वक चुनाव करने के लिए रुचि का बड़ा महत्व है।

चुनाव—इसी प्रकार चुनाव भी स्वतंत्रता का प्रमुख लक्षण है। यदि कोई व्यक्ति कई वस्तुओं में से किसी एक या एक से अधिक में रुचि रखता है किन्तु फिर भी उसे चुनने का अधिकार नहीं है तो वह स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता। यह स्वतंत्रता कई वस्तुओं के चुनाव में हो सकती है तथा कई कार्यों के चुनाव में भी हो सकती है। परन्तु यहाँ यह समस्या उत्पन्न होती है कि यदि उन कई वस्तुओं अथवा कार्यों में से किसी व्यक्ति को कोई भी पसन्द न हो किन्तु फिर भी उसे उनमें से चुन कर किसी एक को करना अनिवार्य है तो क्या वह स्वतंत्र समझा जायगा? इसका उत्तर यही है कि वह स्वतंत्र नहीं समझा जायगा। चुनाव का अर्थ केवल [illegible] वस्तुओं में से किसी एक को चुन लेना ही नहीं है। स्वतंत्रता का अर्थ यह है कि वह न चाहने पर यह चुने कि वह किसी को चुनना पसंद नहीं करता।

अतः हमने यह देखा कि स्वतंत्रता वह वस्तु है जिसमें मनुष्य को अपनी रुचि के अनुसार चुनाव करने का अधिकार हो। इसी स्वतंत्रता के द्वारा मनुष्य का जितना भी व्यवहार है वह सब प्रजातंत्र

के अंतर्गत आ जाता है। इस स्वतंत्रता की कई कोटियाँ होती हैं जिनकी क्रमिक प्राप्ति प्रजातंत्रात्मक समाज का उद्देश्य होता है। वैसे तो उसके और भी अनेक उद्देश्य होते है, किन्तु प्रजातंत्रात्मक समाज मानव की पूर्ण स्वतंत्रता में ही अन्य उद्देश्यों की पूर्ति मानता है।

स्वतंत्रता की कोटियाँ--हम अभी यह कह चुके हैं कि स्वतंत्रता की कई कोटियाँ होती हैं। उनमें सबसे अंतिम कोटि कौन सी है इस पर विचार कर लेना चाहिए, क्योंकि वही एक आदर्श माना गया है। मनुष्य की उत्पत्ति जब से हुई तबसे आज तक निरंतर वह इसी की प्राप्ति के लिए संघर्ष करता आया है, और आज भी कर रहा है। भारतीय आदर्श के अनुसार पूर्ण स्वतंत्रता अर्थात् मोक्ष ही मनुष्य का चरम लक्ष्य है। उसी की प्राप्ति के लिए जो प्रयत्न वह करता है वे उसे निरंतर एक के बाद दूसरी उन्नत अवस्था प्राप्त कराते रहते हैं। व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों ही प्रगतियों का रहस्य पूर्ण स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए एक अवस्था से दूसरी अवस्था में आना ही है। यह तो हुई पारमार्थिक स्वतंत्रता की बात, किन्तु लौकिक स्वतंत्रता में भी एक अंतिम कोटि मानी गई है।

ऊपर हम यह कह आए हैं कि स्वतंत्रता के लिए चुनाव तथा रुचि की आवश्यकता होती है। जहाँ तक रुचि का संबंध है यह कहना कि कोई व्यक्ति जिसे चुनाव की स्वतंत्रता दी गई है अपनी ही रुचि के अनुसार कार्य करेगा कठिन है। बहुत बार ऐसा होता है कि साधारणतया हम यह समझते हैं कि हम अपनी ही रुचि के अनुसार कार्य कर रहे हैं, किन्तु होता यह है कि वास्तव में हमारा चुनाव चुनने का अवसर प्रदान करने वाले व्यक्ति की ही रुचि के अनुसार होता है, और हम यह समझते हैं कि हम अपनी रुचि से

कार्य कर रहे हैं। प्रश्न यह होता है कि ऐसा किस प्रकार होता है?

समाज में स्वार्थी व्यक्तियों की कमी नहीं है। अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए वे शक्ति भी एकत्रित कर लेते हैं ताकि उसके द्वारा वे अपने स्वार्थों की पूर्ति कर सकें। इसके लिए वे या तो शक्ति का सीधा प्रयोग लोगों पर करके उन्हें अपने हित के कार्य करने के लिए बाध्य करते हैं और या वे उन्हें अपनी राय का बना कर उनसे मनमाना कार्य कराते हैं। प्राचीनकाल में तो शक्ति का सीधा प्रयोग किया जाता था, किन्तु जैसे जैसे लोगों ने अपने को उनके दबाव से बचाने के उपाय ढूँढे और फलस्वरूप वे स्वतंत्र हुए भी वैसे वैसे उन स्वार्थी व्यक्तियों ने उन्हें फिर अपना दास बनाने का उपाय ढूँढने का प्रयत्न किया। इस बार शक्ति के प्रयोग से सफलता प्राप्त होना कठिन हो गया अतः प्रचार द्वारा लोगों के विचारों को बदलने का प्रयत्न किया गया। इसके फलस्वरूप लोगों की रुचि वैसी ही बना ली गई जिसके द्वारा उन स्वार्थी व्यक्तियों का हित भी सिद्ध हो जाय और समाज की दृष्टि में उनकी स्वतंत्रता भी बनी रहे। इस प्रकार के समाज में लोगों के व्यक्तित्व का निर्माण ही एक विशेष रीति से होता है। उदाहरण के लिए पूँजीवादियों के प्रचार ने ही दलित लोगों में भाग्य की धारणा उत्पन्न कर दी। यदि उनसे यह कहा भी जाय कि उन्हें क्रांति द्वारा [illegible] देश को उन्नत बनाना है और धनिकों को सामान्य श्रेणी में लाना है तो वे इसे स्वीकार ही नहीं करेंगे, और यही उत्तर देंगे कि भाग्य ने उन्हें छोटा तथा दूसरों को बड़ा बनाया है अतः वे उसमें हस्तक्षेप करने के अधिकारी नहीं हैं। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि लोगों की रुचि ही एक विशेष प्रकार से ढाल दी जाती है। रुचि को बिना प्रभावित किए

यदि मनुष्य को चुनाव या अवसर दिया जाय तभी उसे वास्तविक स्वतंत्रता की प्राप्ति होगी।

कोर्केगार्ड ने कहा है कि चुनाव या उचित अवसर ही मनुष्य के व्यक्तित्व का सही विकास होने में सहायता प्रदान करता है: "Choice is of paramount importance in the maturing of the personality, for that which is chosen is in the deepest sense connected with the person who choses. In choosing, the personality merges with the object which is chosen--- hence personality is moulded in the choice. Without choice personality deteriorates. To fail to choose or to let others choose for one is to lose one's personality. The choice is an act of freedom, and it may well be said that in the act of choosing the individual produces himself."*

सामाजिक प्रगति

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि स्वतंत्रता न केवल मनुष्यों को उनके उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक होती है, वरन् उनके व्यक्तित्व के ठीक निर्माण के लिए भी आवश्यक है। और यही स्वतंत्रता जो मानव जीवन के विकास की सबसे बड़ी शर्त है जब हमारे व्यवहार में परिलक्षित होने लगती है तभी वह प्रजातंत्र हो जाता है। हम पहले भी कह चुके हैं कि प्रजातंत्र केवल एक राजनीतिक सिद्धांत नहीं है, उसका विशेष संबंध हमारे प्रतिदिन के व्यवहार से है। एक बात और, और वह यह कि स्वतंत्रता पा जाना और अपने कार्यों के लिए उसका मनमाना उपयोग करना ही किसी व्यक्ति को प्रजातंत्री

*देखिए—Thomte, Reidar---Kierkegaard's Philosophy of Religion, पृष्ठ ४५-४६।

नहीं बना देता। प्रजातंत्री बनने के लिए तो व्यक्ति को समाज में रहने वाले अन्य व्यक्तियों की स्वतंत्रता का समुचित आदर करना होता है। यदि दूसरों की स्वतंत्रता में उसकी अपनी स्वतंत्रता बाधक हुई तो वह कदापि प्रजातंत्री नहीं कहलाएगा। दूसरों की स्वतंत्रता का आदर करने तथा दूसरों को स्वतंत्रतापूर्वक विचार करने का अवसर प्रदान करना प्रत्येक प्रजातंत्री व्यक्ति का सर्वप्रथम कर्तव्य है। और यही एक कठिनाई है जो प्रजातंत्र को आगे बढ़ने से रोकती है। प्रत्येक व्यक्ति अपने . अपने विचारों की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करता है। उसी को पा जाने में वह अपने जीवन की सफलता मानता है, किन्तु केवल अपने का भाव सामाजिक प्रगति का विरोधी है। अतएव हमें दूसरों की स्वतंत्रता का सम्मान करने की बात पर हर समय ज़ोर देते रहना चाहिए ताकि हम उस आदर्श को एक क्षण के लिए भी न भूल सकें। राइट महोदय का कथन है कि: "Democracy must be felt. It must be retaught in every generation."*

यदि प्रत्येक व्यक्ति में इस भावना का उद्रेक हो जाय तो सबके व्यक्तित्व का निर्माण ठीक प्रकार हो, लोग अपने कर्तव्यों का निर्वाह निस्वार्थ होकर निर्माण बुद्धि से करने लगें, उनके आपस के संघर्ष दूर हो जायँ और इस प्रकार एक ऐसे आदर्श समाज का निर्माण हो जाय जिसमें सब बराबर हों, सब स्वतंत्र हों तथा सब अपने तथा समाज के भाग्य के निर्णायक हों। सामाजिक प्रगति का इसके अतिरिक्त और कोई साधन संभव नहीं।

---

*देखिए—Wright. David. McCord—Democracy and Progress पृष्ठ—५३।

सभ्यता तथा संस्कृति

संस्कृति शब्द आज के युग में अध्येताओं के लिए मनन का एक प्रमुख विषय हो गया है। ईसा की इस २०वीं शताब्दी में इस विषय पर जितना अधिक साहित्य निर्मित हुआ उतना संभवतः इससे पूर्व कभी नहीं। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि शायद कुछ समय पूर्व तक आज की सभ्यता के रंग में रंगे हुए लोग या तो इस शब्द से परिचित न थे, और यदि थे भी तो उनका ध्यान इस ओर आकृष्ट नहीं था। जिससे उनका परिचय था वह शब्द था 'सभ्यता' अतः उसी का प्रयोग हमें उस समय के साहित्य में यत्र तत्र दिखाई पड़ता है। अब प्रश्न यह होता है कि वह कौन सी घटना थी जिसने हमारा ध्यान उधर से हटा कर 'संस्कृति' शब्द की ओर कर दिया।

विचार करने से यह ज्ञात होता है कि मनुष्येतर प्राणियों में जीवन का विकास केवल एक ही दिशा में होता है, और वह है उनकी बाह्य स्थिति। उनमें चेतना तो होती है, किन्तु मनुष्य की भाँति आत्मचेतना का सर्वथा अभाव है, इसी कारण उनका आंतरिक जीवन जैसा का तैसा अविकसित रह जाता है। मनुष्य आत्मचेतना के कारण अपने जीवन के दोनो पक्षों से परिचित है। किन्तु इस बात से यह न समझ लेना चाहिए कि सभी मनुष्यों में आत्मचेतना समान रूप से विकसित अवस्था में वर्तमान है। बहुत सी जातियाँ हैं जिनमें लगभग इसका अभाव ही है, अन्य इस संबंध में उनसे कुछ अधिक उन्नत हैं तथा दूसरी उनसे भी अधिक उन्नत। इस प्रकार मानव समाज में इसकी अनेक अवस्थाएँ हैं। अब यदि इस बात को ध्यान में रखा जाय तो यह समझने में अधिक कठिनाई न होगी

कि अमुक जाति ने जीवन के अमुक पक्ष में विशेष उन्नति क्यों की, और उसका ध्यान उस ओर अपेक्षाकृत क्यों अधिक आकृष्ट हुआ। संस्कृति तथा सभ्यता जीवन के इन्हीं दोनों (आंतरिक तथा बाह्य) पक्षों के विकास के नाम हैं। विकास जीवन का एक स्वाभाविक लक्षण है उसके लिए प्रयत्न की आवश्यकता नहीं। प्रयत्न तो उन्नति का पथ-प्रशस्त करता है, अतः उसकी सफलता अथवा विफलता हमारे प्रयत्न पर निर्भर है। किन्तु विकास के लिए शर्त केवल जीवन का होना है। जहाँ जीवन होगा वहाँ विकास अवश्यंभावी है। मनुष्य में जीवन है अतः उसमें विकास भी है। हाँ यह बात दूसरी कि यह विकास हमारे जीवन के किस पक्ष में अधिक स्पष्ट है। अभी हम कह आए हैं कि मानव जीवन के दो पक्ष हैं बाह्य तथा आंतरिक। हमारी चेष्टाएँ किधर हैं तथा जीवनधारा किस ओर प्रवाहित हो रही है इसी पर विकास की भी दिशा निर्भर करती है। यदि हममें आत्मचेतना का अभाव है तो यह समझना चाहिए कि हमारे अभ्यंतर का मार्ग बंद है जिसके फलस्वरूप जीवन धारा का प्रवाह बाह्याभिमुख है और सारा विकास जीवन के उसी पक्ष को प्रभावित कर रहा है। किन्तु यदि इसके विपरीत हममें आत्मचेतना पर्याप्तमात्रा में वर्तमान है तो अवश्य ही हमारी सारी चेष्टाएँ उसी ओर परिलक्षित होंगी, एवं जीवनधारा का प्रवाह उसी ओर होगा।

अब यदि यह बात ठीक से समझ ली जाय तो यह जानने में कठिनाई न होगी कि किस जाति विशेष ने अपने जीवन के किस पक्ष को अधिक समृद्ध बनाया और क्यों?

थोड़ा ही ध्यान देने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पाश्चात्य जातियों के लिए जीवन का बाह्य पक्ष ही उनकी समस्त चेष्टाओं का का केन्द्र रहा है। इसी विकास को हम सभ्यता कह कर पुकारते हैं। किन्तु दूसरी ओर भारतवर्ष की आर्य जाति में आत्मचेतना पर्याप्त मात्रा में वर्तमान थी अतः विकास जीवन की आंतरिक दिशा में

ही अधिक हुआ। जीवन के इस विकास को संस्कृति की संज्ञा दी जाती है। भारतीयों के संस्कृत होने, तथा पाश्चात्यों के सभ्य होने की पुष्टि हमारे दैनिक भाषा में प्रयुक्त होने वाले 'पाश्चात्य सभ्यता' तथा 'भारतीय संस्कृति' शब्दों से भी होती है। 'पाश्चात्य संस्कृति' तथा 'भारतीय सभ्यता' शब्दों का प्रयोग कम होता है एवं कानों को खटकता भी है।

अब हम पुनः अपने पुराने प्रश्न की ओर आते हैं। प्रश्न यह था कि वह कौन सी घटना थी जिसने आज के सभ्य मानव का ध्यान 'संस्कृति' की ओर आकृष्ट किया। यह तो स्पष्ट ही है कि जीवन का आतरिक अथवा आध्यात्मिक पक्ष ही उसका सर्वस्व है। वाह्य पक्ष तो केवल उस अविरुद्ध धारा का व्यक्तीकरण मात्र है। इन दोनो पक्षों का आपस में संबंध है किन्तु इस संबंध को समझने में भूल न करनी चाहिए। यह संबंध केवल एकमार्गी है, अन्योन्याश्रय नहीं। वाह्य पक्ष का आधार अंतर्पक्ष है अंतर्पक्ष का आधार वाह्य पक्ष नहीं। जब मनुष्य की आध्यात्मिक पक्ष से अत्यंत निवृत्ति तथा वाह्य पक्ष के प्रति अत्यंत प्रवृत्ति हो जाती है तो उसे जीवन की प्रगति तथा वाह्य प्रसाधनों की उन्नति के परिणामस्वरूप सुख की प्राप्ति होती है। सुख से तात्पर्य अंग्रेजी के (Pleasure) शब्द से है। सुख का कारण वाह्य जगत होता है जिसकी अनुभूति हमें अपनी ज्ञानेंद्रियों द्वारा होती है। इसी सुख को मनुष्य अज्ञानवश आनंद (Happiness) समझ बैठता है जिसके फलस्वरूप अंत में उसे निराशा होती है। आनंद का मूल स्रोत तो मनुष्य का अपना अभ्यंतर ही होता है, उसकी खोज वाह्य जगत में करना कोरी भूल है। पाश्चात्य देशों में यही हुआ। उनकी समस्त चेष्टाएँ वाह्य जगत की ओर केन्द्रित रहीं, इसी कारण सारी उन्नति जड़ प्रसाधनों की हुई। यह उन्नति दिन पर दिन अधिकाधिक होती गई किन्तु उसे आनंद की प्राप्ति नहीं हुई। उसने सोचा कि शायद अभी उसके प्रयत्नों में कुछ त्रुटि रह

गई है जिसके पूर्ण होने पर उसे शांति मिलेगी किन्तु यह मृगतृष्णा मात्र थी। योरप का मानव सभ्यता की सीढ़ी पर बहुत ऊँचा चढ़ चुका है किन्तु साथ ही वह अपने लक्ष्य से भी उतनी ही दूर हो गया है। इतनी दूर आकर भी उसे न प्राप्त करके वह आज कुछ हताश सा दीखता है। कभी कभी उसके कार्य-कलापों से ऐसा जान पड़ता है कि शायद उसे अपनी त्रुटि का कुछ आभास सा मिल गया है। सभ्यता से उसका मन ऊब रहा है और अब वह माया जाल से छुटकारा पाने की कोशिश में है ताकि उसे वह सच्ची शांति प्राप्त हो सके जिसका अनुभव हमारे भारतीय ऋषि आज से लगभग ढाई तीन हजार वर्ष पूर्व कर चुके थे और जिसका यत्किञ्चित प्रसाद आज के हम भारतीय अपने परंपरागत आध्यात्मिक मार्ग से च्युत हो जाने पर भी पा रहे हैं।

मेरी सम्मति में योरप के आज के धर्म, कला तथा संस्कृति सम्बन्धी विचार विमर्श इसी आधुनिक सभ्यताजनित निराशा के संभवतः द्योतक हैं। योरपीय जगत को सभ्यता का यह छद्मजाल आज असह्य हो रहा है, वह उससे मुक्ति प्राप्त करने की धुन में है। अभी हाल के हो विश्वव्यापी युद्ध से उसे कुछ आशा हुई थी कि संभवतः इसके पश्चात् कोई हल निकल सकेगा, किन्तु हुआ उसके ठीक विपरीत। सारी समस्याएँ अधिक जटिल हो गईं। उन्हें सुलझाने के लिए जो प्रयत्न किये जा रहे हैं वे उसे पुनः उसी ओर लिए जा रहे हैं जिससे छुटकारा प्राप्त करने के लिए उसने कुछ प्रयत्न करना आरम्भ किया था। आज की परिस्थिति युद्ध से पूर्व की परिस्थिति से कहीं अधिक जटिल हो गई है। यही कारण है कि आध्यात्मिक रहस्यों की छानबीन तथा संस्कृति के मूलाधारों का अन्वेषण उसकी जिज्ञासा के प्रिय विषय हो रहे हैं। उसे आज सभ्यता की आवश्यकता नहीं, वह तो उसने प्रचुर मात्रा में अर्जित कर ली, उसे तो। उस आध्यात्मिक तत्व की तलाश है जिसे पाकर उसकी समस्त चेष्टाएँ आत्मोन्नति के कार्य-कलाप में व्यस्त हो जाएँगी। तभी उसे शांति मिलेगी। वह संस्कृत होगा।

परिशिष्ट—२

अहिंसा

अहिंसा एक सद्गुण है, किन्तु फिर भी सद्गुण के अध्याय में उसका उल्लेख न करके उससे प्रथक् यहाँ उस पर विचार क्यों किया जा रहा है। यह शंका पाठक के मन में उत्पन्न हो सकती है। किन्तु अहिंसा की व्यापकता तथा उसके आज के महत्व पर यदि विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि उस पर विस्तारपूर्वक कुछ कहना बड़ा आवश्यक है।

वैसे तो अनेक सद्गुण हैं जिनका महत्व बहुत अधिक है, किसी के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता कि इसका महत्व कम है। किन्तु फिर भी समय की आवश्यकता तथा उसकी व्यापकता के अनुसार ही किसी सद्गुण को दूसरों की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जाता है। यह बात कुछ नई नहीं है। बहुत समय से सद्गुणों को कम या अधिक महत्व दिया जाता रहा है। उदाहरण के लिए प्राचीन यूनानी और रोमन लोगों में साहस (Courage) का बड़ा महत्व था। प्रारंभिक ईसाइयों में दान (Charity) का महत्व था, मध्य युग में शूरता (Chivalry) का तथा अठारहवीं शताब्दी में योरप में परोपकार (Benevolence) को सबसे अधिक महत्व दिया गया। इसी प्रकार वर्तमान युग में जितना महत्व अहिंसा का है उतना अन्य किसी सद्गुण का नहीं। आज के संघर्षमय जीवन को इसी की आवश्यकता है। तभी तो गाँधी जी ने संसार को उसका पाठ पढ़ाया और बताया कि मानव कल्याण के लिए इससे बढ़ कर दूसरा उपाय नहीं है।

यह तो हुई अहिंसा के आज के महत्व की बात, किन्तु हमारे पूर्व पुरुषों ने बहुत समय पहले ही 'अहिंसा परमो धर्मः' कह कर उसके महत्व को बताया था। इससे यह अर्थ निकलता है कि अहिंसा एक ऐसा सद्गुण है जिसका महत्व समय के अनुसार उस प्रकार घटता बढ़ता नहीं जिस प्रकार कि साहस, दान, शूरता तथा परोपकार आदि गुणों का घटता बढ़ता रहता है। मनु ने प्रमुख सद्गुणों (Cardinal Virtues) में अहिंसा को भी स्थान दिया :

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः (मनु १०, ६३)

अर्थात् अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, पवित्रता तथा इंद्रियनिग्रह (Self Control) सद्गुण हैं। इससे भी पहले के अहिंसा के महत्व का परिचय प्राप्त होता है।

इसके महत्व का एक और प्रमुख कारण यह है कि यह न तो केवल एक सामाजिक सद्गुण है और न केवल व्यक्तिगत अथवा नैतिक सद्गुण। सद्गुण के अध्याय में हम यह देख आए हैं कि कुछ सद्गुण सामाजिक हैं तथा कुछ व्यक्तिगत अथवा नैतिक। परंतु अहिंसा एक ऐसा सद्गुण है जो सामाजिक भी है और व्यक्तिगत अथवा नैतिक भी। इसका प्रत्यक्ष प्रभाव हमारे जीवन पर भी पड़ता है और समाज पर भी।

अहिंसा क्या है इसे भी समझना आवश्यक है। साधारण रीति से अहिंसा का अर्थ है किसी को न मारना। मारने का अर्थ है शारीरिक क्षति पहुँचाना। किन्तु केवल इतने से ही इसका पूरा अर्थ स्पष्ट नहीं होता। मारना अथवा शारीरिक क्षति पहुँचाना एक भौतिक अथवा शारीरिक कार्य है किन्तु अहिंसा एक मानसिक गुण है। हिंसा अथवा अहिंसा मन से होती है शरीर से नहीं। एक चिकित्सक अपने रोगी का हाथ आवश्यकता पड़ने पर बिना किसी नैतिक सोच विचार के काट देता है, किन्तु उसके इस कार्य को कदापि हिंसा

नहीं कहा जा सकता। यही नहीं अहिंसा के अन्यतम पुजारी गाँधी जी ने एक बार असह्य वेदना से पीड़ित एक बछड़े को मरवा तक दिया था। फिर भी उनका यह कार्य हिंसक नहीं कहा जा सकता। इसका कारण क्या है? चिकित्सक ने अपने रोगी की टाँग, केवल रोगी के हित की भावना से ही काटी। उसके इस कार्य से रोगी का जीवन बच गया, अन्यथा उसे अपनी जान गवानी पड़ती। इसी प्रकार गाँधी जी ने यह देख कर कि बछड़े का जीवन बचना तो असंभव है, जब तक वह जिएगा असह्य वेदना से पीड़ित होगा अतः यदि उसे शीघ्र ही उससे मुक्त कर दिया जाए तो यह उसके हित में ही होगा। यहाँ मारने का कार्य भी हित की भावना से ही हुआ। ये दोनों कार्य केवल मारने अथवा हानि पहुँचाने के लिए नहीं किए गए अतएव उन्हें हिंसा नहीं कहा जा सकता। हिंसा उसी समय होती है जब कि मनुष्य के मन में हानि पहुँचाने की भावना उत्पन्न हो जाती है। इस भावना के उत्पन्न हो जाने पर यदि उसके द्वारा मारने अथवा हानि पहुँचाने का कार्य किसी कारणवश न भी किया जा सके तब भी हिंसा हो चुकी। कुछ लोग वैदिक धर्म को हिंसक होने का लांछन इसलिए लगाते हैं कि उनमें बलि विहित है। साथ ही यह कहा भी गया है कि 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति,' अर्थात् वेद में बताई गई हिंसा हिंसा नहीं है। इसका कारण यही है कि वह हिंसा मानव के कल्याण की शुद्ध भावना से देवताओं को प्रसन्न करने के लिए की जाती थी। उसमें बलि होने वाले प्राणी के प्रति कोई द्वेष की भावना नहीं होती थी। बलि करने वालों के लिए उनके अज्ञान की बात तो कही जा सकती है, किन्तु हिंसक होने की बात क़दापि नहीं कही जा सकती।

यह तो हुई शारीरिक हानि पहुँचाने की बात। अहिंसा का क्षेत्र इससे भी अधिक विस्तृत है। गांधी जी ने कहा कि "अहिंसा का

अर्थ है प्राणिमात्र के प्रति दुर्भाव का अभाव।"* हिंसा में ईर्ष्या तथा द्वेष का भी समावेश हो जाता है। इसी प्रकार किसी को धोखा देना या किसी के प्रति कोई अन्याय करना भी हिंसा की कोटि में शामिल हो जाता है। कारण यह कि इससे भोक्ता को मानसिक अथवा शारीरिक कष्ट सहन करना पड़ता है। अतएव हमें यह निष्कर्ष निकलता है कि आचरण के साथ साथ मन की शुद्धता ही किसी व्यक्ति को अहिंसक बना सकती है। गांधी जी ने कहा है कि : "अहिंसा है जाग्रत आत्मा का गुण विशेष। यह दूसरे गुणों के मूल में रही हुई है। इसलिए विचार, विवेक, वैराग्य, तपश्चर्या, समता, ज्ञान के बिना उसका पालन असंभव है।"** इस प्रकार हम यह देखते हैं कि अहिंसा हमारे सारे नैतिक गुणों का मूलाधार है। उसके बिना अन्य कोई सद्गुण संभव नहीं।

---

*देखिए—यंग इंडिया—२८ जुलाई, १९२१।

**देखिए—हिंदी नवजीवन, २ दिसंबर, १९२६।

सहायक ग्रंथ सूची

१ सामान्य—

1 Bhagwan Das The Science of Social Organization.

2 Hetherington, H. J. W and Muirhead, J. H. Social Purpose.

3 Kropotkin, P Mutual Aid.

4 Ross, E. A Foundations of Sociology.

5 Urwick, E J A Philosophy of Social Progress.

२ समाज—

1 Calverton, V. F The *Making of Society.*

2 Gillette. The Family and Society.

3 *Jones, Sir Henry The Principles of Citizenship.*

4 Morgan, L. H Ancient Society.

5 Silberman, Leo Analysis of Society.

३ सामाजिक संस्थाएँ—

1 Bradley, F. H Ethical Studies.

2 C le, G. D. H Social Theory.

3 MacIver, R. M Community.

4 Mackenzie, J. S Outlines of Social Philosophy.

४ परिवार—

1 Fiske, G W The Changing Family.

2 *Goodsell, W A History of the Family* as a Social and Educational Institution.

3 Lofthouse. W. F Ethics and the Family.

4 Mowrer, E. R The Family.

5 Ogburn, W. F The Changing Family.

6 Russell, B Marriage and Morals.

५ राज्य—

1 *Bluntschli, J. K Theory of the State.*

2 Bosanquet, B The Philosophical Theory of the State.

3 Ford, H. J The Natural History of the State.
4 Hobhouse, L. T The Metaphysical Theory of the State,
5 Sampurnand Samajvad.

६ धर्म—
1 Brightman, E. S A philosophy of Religion.
2 Caird, E The Evolution of Religion.
3 Karsten, R The Origins of Religion.
4 Radhakrishnan, S Indian Philosophy vol I.
5 Thomte, R Kierkegaards Philosophy of Religion.
6 Whitehead, A. N Science and the Modern world.

७ दण्डनीति—
1 Hegel Philosophy of Right
2 Rashdall Theory of Good and Evil.
3 Ross, W. D The Right and the Good.
4 Smith, Adam Theory of Moral Sentiment.
5 Westermark Origin and Development of Moral Ideas.

८ सद्गुण—
1 Muirhead, T. H The Elements of Ethics.
2 Spencer, H Principles of Ethics vol I.
3 Taylor, A. E The Problem of Conduct.
4 Westermark Origin and Development of Moral Ideas.

९ प्रजातंत्र और सामाजिक प्रगति—
1 Hearnshaw, F. I. C Democracy at the Crossways.
2 Urwick, A Philosophy of Social Progress.
3 Wright, D. Mc Cord Democracy and Social Progress.